# पराया

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रभात प्रकाशन
दिल्ली ★ मथुरा

प्रकाशक :
शिवचरनलाल गुप्त
२०५, चावड़ी बाजार,
दिल्ली—६

*

[redacted]:
राजेश दीक्षित

*

१९६१

*



*

मुद्रक :
जगदीशप्रसाद भरतिया
बम्बई भूषण प्रेस,
मथुरा

*

मूल्य :
दो रुपया

# दो शब्द

हिन्दी के महाकवि श्री जयशंकर 'प्रसाद' की भाँति, बंगला के विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अपनी सर्वतोमुखी साहित्य-प्रतिभा के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने गीति-काव्य तथा उपन्यास तो प्रमुख रूप से लिखे ही, छोटी-छोटी कहानियों में अपनी प्रतिभा के अद्भुत चमत्कार द्वारा सबको चमत्कृत किया है।

रविबाबू की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पाठक के हृदय-तल की अंतिम गहराई तक को स्पर्श करने में पूर्ण सक्षम हैं। अभिव्यक्ति की सरसता, भावों की प्रवणता एवं कथा-शिल्प की दृष्टि से भी उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत संग्रह में रविबाबू का बारह कहानियों को सङ्कलित किया गया है। चयन में यह ध्यान विशेष रूप से रक्खा है कि विभिन्न रुचि के पाठक भी इस सङ्कलन द्वारा इच्छित वस्तु को प्राप्त कर सकें।

—अनुवादक

# कथा-सूची

# पराया

बालकों के सरदार फटिक चक्रवर्ती के मस्तिष्क में अचानक एक नए विचार ने जन्म लिया, तदनुसार यह निश्चय किया गया कि नदी के तट पर मस्तूल बनाने के लिए जो साल की बड़ी बल्ली पड़ी हुई थी, उसे लुढ़का कर नदी में बहा दिया जाय।

बालकों ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन यह समझ कर किया कि जिस आदमी की यह लकड़ी है, उसे कितना आश्चर्य होगा और आवश्यकता के समय कैसी झुंझलाहट और असुविधा होगी—इसे देखना चाहिए।

जिस समय सभी लोग कमर कस कर इस कार्य में जुट जाने की तैयारी कर रहे थे, उसी समय फटिक का छोटा भाई—माखनलाल—गम्भीर होकर उस बल्ली पर जा बैठा। बालकों ने जब उसकी यह उदार उदासीनता देखी तो वे कुछ उदास से होगए।

एक बालक ने कुछ सहमते हुए, उसे धीरे से धक्का देकर बल्ली से हटाना चाहा, परन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ। वह अकाल तत्वज्ञानी हर प्रकार के खेलों की निस्सारिता के सम्बन्ध में मानो ध्यानपूर्वक विचार करने लगा।

तभी फटिक ने क्रुद्ध होकर कहा—"देख, अब उठ जा, अन्यथा मार खाएगा।" परन्तु यह सुनकर वह और भी अकड़ कर बैठ गया।

ऐसी हालत में, सब बालकों के सामने अपने बड़प्पन के सम्मान की रक्षा के लिए फटिक के सामने केवल एक ही कर्तव्य रह गया था कि

न मानने वाले अपने भाई के गाल पर थप्पड़ लगा दे—परन्तु ऐ कर… …। साहस न हुआ। फिर भी उसने अपना रुख ऐसा दिखाय मानो वह अभी इच्छा करते ही उसे काबू में ला सकता है, परन्तु उस इसलिए कुछ नहीं किया क्योंकि उसके मस्तिष्क में एक और भी मजेद खेल जग उठा था। उसने लड़कों से कहा—"हम लोग माखन के साथ इस बल्ली को लुढ़का ले चलें।"

माखन ने विचार किया था कि इसमें उसका गौरव सुरक्षित रहेगा परन्तु अन्य सांसारिक गौरवों के समान इसमें कोई विपत्ति भी आ सकती है यह बात उसके अलावा अन्य किसी बालक के भी ध्यान में नहीं आई थी।

जब यह तय हो गया तो सभी लड़कों ने मिलकर उस बल्ली क लुढ़काना शुरू कर दिया। 'मारो, ठेलो, शाबास जवानो!' कहते हुए वे बल्ल को ठेलने लगे, परन्तु बल्ली अभी एक चक्कर भी न घूम पाई थी कि अप गम्भीरता, गौरव तथा तत्वज्ञान के साथ ही माखन पृथ्वी पर गिर पड़ा।

खेल के प्रारम्भ में ऐसी आशातीत सफलता को देखकर अन्य लड़ बहुत प्रसन्न हो उठे, परन्तु फटिक को कुछ घबराहट हुई। उसी समय माखन पृथ्वी से उठकर फटिक पर टूट पड़ा और गुस्से में भर कर उसके मुँह, नाक, कान को नोंचकर, रोता हुआ घर की ओर चला गया। उसी समय खेल भी समाप्त हो गया।

तब फटिक थोड़ी-सी घास तोड़कर एक नाव पर जा चढ़ा और वह बैठकर उसे चबाने लगा। उसी समय बाहर की एक नाव उस घाट पर आक लगी। नाव में से उतर कर एक अधेड़ सज्जन, जिनकी मूँछें काली थीं औ बाल सफेद थे, नीचे आए। उन्होंने फटिक से पूछा—"चक्रवर्तीजी का मका किधर है?"

लड़के ने घास चबाते हुए कहा—"वह रहा उधर!" परन्तु उस किस ओर बताया था, यह समझने की शक्ति किसी में नहीं थी। उस सज्ज पुरुष ने फिर पूछा—"किधर?"

"मैं नहीं जानता!" इतना कहकर वह फिर पहले की भाँति घा

ग रस चूमने में जुट गया। तब वे भद्रपुरुष एक अन्य आदमी की
ो चक्रवर्तीजी का मकान ढूँढ़ने के लिए चल दिए।

तभी नौकर ने फटिक के पास आकर कहा—"फटिक भैया! तुम्हें ाताजी बुला रही हैं।"

फटिक ने उत्तर दिया—"मैं नहीं जाऊंगा" परन्तु नौकर ने उसे लपूर्वक गोद में उठा लिया। तब फटिक लाचार हो, क्रोध के कारण हाथ-ाँव पटकता हुआ चला।

फटिक को देखते ही माँ ने आग-बबूला होते हुए कहा—"क्यों रे, आज तूने माखन को फिर मार दिया न?"

फटिक बोला—"नहीं मैंने उसे नहीं मारा है!"

"फिर झूँठ बोल रहा है?"

"मैंने कह दिया न, मैंने उसे नहीं मारा। चाहो तो माखन से ही ूछ लो।"

माखन से पूछने पर उसने अपनी पहली शिकायत का समर्थन करते हुए कहा—"हाँ; इसने मुझे मारा है।"

फटिक से अब और अधिक सहन न हुआ। उसने शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़कर माखन के गाल पर एक जोरदार चाँटा लगाते हुए कहा—"फिर झूँठ ोलता है?" यह देखकर माँ ने माखन का पक्ष लेते हुए फटिक को जोर से झकझोर दिया और उसकी पीठ में दो-तीन थप्पड़ जड़ दिए। उस समय टिक ने भी माँ को एक धक्का दे दिया।

माँ चिल्लाकर बोली—"अरे, तू तो मेरे ऊपर भी हाथ उठा हा है?"

उसी समय उन पूर्वोक्त अधेड़ सज्जन ने घर में प्रवेश करते हुए हा—"तुम लोग यह सब क्या कर रहे हो भाई?"

फटिक की माँ आश्चर्य और आनन्द में विभोर होकर बोली—"अरे, यह तो भैया हैं! तुम कब आ गए?" इतना कहकर उसने पृथ्वी की ओर झुकते हुए उन्हें प्रणाम किया।

बहुत दिन हुए तब भैया पश्चिमी प्रान्त में काम करने के लिए चले गए थे। तब से फटिक की माँ के दो सन्तान हो चुकी हैं, वह भी बहुत बड़े हो चुके हैं, परन्तु इस बीच के समय में फटिक की माँ की उनसे एक बार भी मुलाकात नहीं हो सकी। आज विश्वम्भर बाबू बहुत दिनों बाद जब अपने गाँव लौटकर आए तो वे अपनी बहिन से भी मिलने के लिए यहाँ चले आए हैं।

कुछ दिन खूब आनन्द में बीते। विदा होने के दो-एक दिन पहले विश्वम्भर बाबू ने अपनी बहिन से बालकों की शिक्षा-दीक्षा तथा मानसिक उन्नति के सम्बन्ध में जब प्रश्न किया तो उत्तर में उन्होंने फटिक की पढ़ाई-लिखाई से अरुचि, उच्छृङ्खलता तथा माखन की पढ़ाई-लिखाई में रुचि एवं सुशील स्वभाव का विवरण सुना।

उनकी बहन बोली—"फटिक ने तो ऊधम के मारे मेरी नाक में दम कर रक्खा है।"

यह सुनकर विश्वम्भर ने यह प्रस्ताव रक्खा कि वे ऊधमी फटिक को अपने साथ कलकत्ते लिवा ले जाएँगे और वहीं अपने पास रखकर उसे पढ़ाएँगे। इस प्रस्ताव को सुनकर विधवा सहर्ष सहमत हो गई।

उसने फटिक से पूछा—"क्यों रे फटिक ! तू अपने मामा के साथ कलकत्ते जायगा ?"

फटिक यह सुनकर प्रसन्नता से उछल उठा। बोला—"जाऊँगा, अवश्य जाऊँगा।"

फटिक को कलकत्ते भेजने में माँ को कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि उसे सदैव ही यह आशंका बनी रहती थी कि फटिक किसी भी दिन या तो माखन को जल में फेंक देगा अथवा उसका सिर ही फोड़ देगा अथवा कोई ऐसी ही अन्य दुर्घटना कर डालेगा, तो भी फटिक को कलकत्ता जाने के लिए इतना उत्सुक देखकर उन्हें कुछ दुःख हुआ।

'कब चलोगे ? किस दिन चलोगे ?' आदि प्रश्न पूछ-पूछकर फटिक ने अपने मामा को परेशान कर दिया। उत्साह के मारे उसे रात भर नींद भी नहीं आई।

अन्त में, कलकत्ता जाते समय उसने अपनी वंशी, परेता आदि सभी वस्तुएं प्रसन्नतापूर्वक माखन को खेलने के लिए दे दीं।

कलकत्ते में मामा के घर पहुँचकर फटिक का सबसे पहला परिचय अपनी मामी से हुआ। फटिक की मामी इस अनावश्यक परिवार वृद्धि से कुछ प्रसन्न हुई हों—यह नहीं कहा जा सकता। वे अपने तीन पुत्रों के साथ नियमानुसार गृहस्थी चला रही थीं। अचानक एक तेरह वर्ष के अपरिचित, अशिक्षित तथा ग्रामीण बालक को अपने घर में ले आने से परिवार में कुछ उथल-पुथल मच सकती है—इस पर उन्होंने मन-ही-मन विचार किया। वे सोचने लगीं—'विश्वम्भरबाबू की इतनी बड़ी उम्र हो गई, परन्तु अभी तक उनमें समझ नहीं आई है।'

तेरह-चौदह वर्ष की आयु वाले बालक के समान इस संसार में अन्य कोई बला नहीं है। वह न तो किसी काम को ही कर सकता है और न किसी के हृदय में अपने प्रति प्रेम ही उत्पन्न कर सकता है। उसके साथ रहने के लिए कोई भी उत्सुक नहीं होता और उसके मुंह से निकली हुई बातें भी बनावटी लगती हैं। यदि वह कोई गम्भीर बात कहता है तो वह बड़े लोगों के हृदय में खटकती है और उसे व्यर्थ की बात समझा जाता हैं। इस उम्र के बालकों के लिए कपड़े पहनने की आवश्यकता भी बहुत अधिक बढ़ जाती है। उसके बचपन की कोमलता और कण्ठ-स्वर का माधुर्य नष्ट हो जाता है, अतः लोग मन-ही-मन उसकी शिकायत किए बिना नहीं रह सकते। शैशवस्था तथा युवावस्था की अनेक त्रुटियाँ क्षमा की जा सकती हैं, परन्तु इस आयु की स्वाभाविक तथा अनिवार्य त्रुटि भी असह्य प्रतीत होने लगती है। इस आयु का बालक भी अपने मन में सदैव यह समझता रहता है कि संसार में उसका मेल कहीं नहीं खा रहा है। इसलिए वह सदैव अपने मन में लज्जित तथा क्षमा-प्रार्थी सा बना रहता है। इस आयु में यदि वह किसी सहृदय व्यक्ति द्वारा स्नेह अथवा मित्रता प्राप्त करता है, तो उसके लिए अपनी आत्मा तक बेच देता है। इतने पर भी लोग उससे स्नेह करने का साहस नहीं करते; क्योंकि वह उसे नादान ही समझते रहते हैं। यही कारण है कि उसका चेहरा

लावारिस कुत्ते की भाँति हो जाता है और मनोभावों में रूखापन आ जाता है। अतः इस आयु में अपने माता-पिता का घर छोड़कर बालक को पराए घर अथवा किसी अपरिचित स्थान में रहना, नर्क में रहने के समान प्रतीत होता है। चारों ओर के स्नेह-हीन व्यवहार उसे पग-पग पर काँटे की भाँति चुभते हैं। इस आयु में वह नारी जाति को स्वर्ग लोक का दुर्लभ प्राणी समझने की धारणा बना लेता है, अतः यदि उसे उनके द्वारा उपेक्षा मिलती है, तो वह अत्यन्त असहनीय प्रतीत होती है।

मामी के स्नेह-विहीन नेत्रों में वह एक दुष्ट ग्रह की भाँति खटक रहा है—यह बात फटिक के हृदय को अत्यन्त चोट पहुँचाती थी। यदि मामी उससे कोई काम करने को कहतीं तो वह अत्यन्त उत्साहपूर्वक उस कार्य को आवश्यकता से अधिक कर डालता था, परन्तु जब मामी उसके उत्साह को फीका करते हुए यह कहती थीं—'बस, बस, बहुत हो चुका। अब तुम्हें इस काम में फिर कभी हाथ न लगाना पड़ेगा। जाओ, तुम अपना काम देखो और मन लगाकर कुछ पढ़ो लिखो'—तो फटिक को उसकी मानसिक उन्नति के सम्बन्ध में मामी की यह उत्सुकता अत्यन्त कठोर और बनावटी प्रतीत होती थी।

इस प्रकार घर में उसका निरादर था, परन्तु उसके अतिरिक्त साँस लेने के लिए कोई दूसरा स्थान भी नहीं था। घर की चहार-दीवारी में नजरबन्द रहकर, उसे अपने गाँव की बातें याद आया करती थीं।

खेल के मैदान में एक बड़ी पतङ्ग लेकर चिल्लाते हुए उसे उड़ाना, 'अब तो नहीं बचे'—शीर्षक स्वरचित गाना उच्चस्वर से गाना, नदी के किनारे बेकार घूमना जब-तब उस छोटी-सी नदी में तैरना, बालकों का अपना दल, उपद्रव, स्वच्छन्दता तथा इन सबसे बढ़कर अत्याचार तथा अन्याय करने वाली अपनी माँ—यह सब स्मृतियाँ दिन-रात उसके हृदय को अपनी ओर खींचती रहती थीं।

जानवरों की भाँति एक प्रकार का नासमझ प्रेम, न देख पाने की अवर्णनीय आकुलता, गोधूलि वेला में मातृहीन बछड़े की भाँति 'माँ, माँ' का

आन्तरिक क्रन्दन उस दुवले-पतले,-लजीले, संशकित, असुन्दर बालक के हृदय में मानो सदैव उठता रहता था।

विद्यालय में उतना वड़ा नासमझ तथा लापरवाह बालक अन्य कोई नहीं था। किसी वात के पूछे जाने पर वह मुँह वनाए चुपचाप खड़ा रह जाता था। अध्यापक जव कभी पीटना आरम्भ करता तो वह बोझ से दवे हुए गधे की भाँति चुपचाप मार सह लेता था। वालकों को जव खेल-कूद की छुट्टी मिलती, तव वह खिड़की के समीप खड़ा रहकर, दूर के मकानों की छत्तों की ओर देखा करता था। दोपहरी की धूप में जव कभी उसे दो-चार वालक किसी छत्त पर खेलते हुए दिखाई दे जाते थे तो उसका चित्त भी उन्हीं की भाँति खेलने को अधीर हो उठता था।

एक दिन उसने साहस करके अपने मामा से पूछा—"मामा ! अब मैं माँ के पास कव जाऊँगा ?"

मामा ने उत्तर दिया—"विद्यालय की छुट्टो होने पर जा सकोगे। छुट्टी पूजा के दिनों में होगी, परन्तु अभी उसमें वहुत देर है।"

एक दिन फटिक की पाठ्य-पुस्तक विद्यालय में कहीं खो गई। एक तो वह वैसे ही पाठ याद नहीं कर पाता था, दूसरे अव इस पुस्तक के खो जाने से वह और भी लाचार हो गया। अध्यापक ने उसे मारना-पीटना तथा अपमानित करना आरम्भ कर दिया। विद्यालय में उसकी स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसके ममेरे भाई उसके साथ रिश्तेदारी का सम्वन्ध स्वीकार करने में लज्जा का अनुभव कर उठे थे। यदि कभी उसका अपमान होता तो अन्य वालकों से भी अधिक प्रसन्नता प्रगट करते थे।

अधिक असह्य हो जाने पर एक दिन फटिक ने अपराधी की भाँति अपनी मामी के पास जाकर कहा—"मामी ! पुस्तक खोगई है।"

मामी यह सुनते ही चिढ़ गई, फिर व्यंग से बोलीं—"अच्छा हुआ, मैं तुम्हें महीने में पाँच पांच पुस्तकें खरीद कर नहीं दे सकती।"

फटिक ने आगे कुछ न कहा। मामी के पास से वह चुपचाप चला आया। 'वह यहाँ रहकर पराया पैसा नष्ट कर रहा है'—यह समझकर उसे

मन-ही-मन अपनी माँ के ऊपर अत्यन्त गर्व हुआ। यहाँ आकर अपनी हीनता एवं दीनता से वहुत ही सहम गया था।

उस दिन जव वह स्कूल से लौटा तो रात के समय उसके शरीर में दर्द होने लगा तथा शरीर में कँपकंपी मचने लगी। वह समझ गया कि उसे ज्वर आने वाला है। उसने यह भी सोचा कि वीमारी वढ़ जाने पर उसकी मामी को व्यर्थ ही परेशान होना पड़ेगा तथा वे इसे एक अनावश्यक कष्ट के रूप में देखेंगी। वीमारी की हालत में वह अद्भुत, निकम्मा तथा नासमझ वालक अपनी माँ के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा प्राप्त करता है, ऐसी आशा करने में भी उसे लज्जा का अनुभव होने लगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल वह अपने मामा के घर में दिखाई नहीं दिया। चारों ओर पड़ोसियों के घर में उसे ढूँढ़ा गया, परन्तु कहीं भी फटिक का पता न चला। उस दिन रात से ही मूसलाधार वर्षा हो रही थी, अतः उसे ढूँढ़ने में लोगों को व्यर्थ ही परेशान होना पड़ा तथा पानी में भीग जाना पड़ा। जव कहीं उसका पता न चला, तव विश्वम्भरवावू ने हारकर पुलिस में रिपोर्ट लिखा दी।

जव सारा दिन बीत गया और शाम हुई, उस समय विश्वम्भरवावू के मकान के सामने एक गाड़ी आकर खड़ी हुई। वर्षा उस समय भी हो रही थी तथा सड़क पर घुटनों तक पानी भरा हुआ था।

पुलिस के दो आदमी फटिक को गाड़ी से उतार कर विश्वम्भरवावू के सामने ले आए। उसका सारा शरीर पानी से भीगा हुआ था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग कीचड़ से सन रहे थे तथा आँखें और मुँह लाल हो रहे थे। उसका सारा शरीर थरथर काँप रहा था। विश्वम्भरवावू उसे गोद में उठाकर भीतर घर में ले गए।

मामी उसे देखते ही वोल उठी—"क्योंजी, पराए लड़के के कारण यह कर्मभोग क्यों भोगा जा रहा है? इसे इसके घर भेज दो।

उस दिन, दिन भर परेशान रहने के कारण विश्वम्भरवावू के घर में खाना-पीना भी नहीं हुआ था और वे अपने वच्चों के साथ व्यर्थ ही खटपट भी कर चुके थे।

तभी फटिक ने रोते हुए कहा—"मैं तो अपनी माँ के यहां ही जा रहा था, यह लोग मुझे जबरदस्ती पकड़ कर ले आए हैं।"

फटिक का ज्वर बहुत तेज हो गया। वह रातभर पड़ा चिल्लाता रहा। विश्वम्भरबाबू उसे देखने के लिए एक चिकित्सक को बुला लाए।

फटिक ने अपनी लाल आँखों को खोलकर एक बार छत की ओर देखा, फिर विश्वम्भरबाबू से बोला—"मामा मेरी छुट्टी हो गई क्या ?"

विश्वम्भरबाबू ने रूमाल से एक बार अपनी आँखों को पोंछा, फिर वे फटिक को स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखकर, उसके दुबले, पतले गर्म हाथ को अपने हाथ में लेकर पास ही बैठ गए।

फटिक उसी अचेत अवस्था में प्रलाप करने लगा। बोला—"मां! मुझे मारो मत, सच कहता हूँ मैंने कोई अपराध नहीं किया है।"

कुछ होश आने पर फटिक किसी को देखने की आशा से कमरे के चारों ओर देखने लगा परन्तु फिर निराश होकर दीवाल की ओर मुँह करके करवट बदलकर लेट गया।

विश्वम्भरबाबू उसके मन का भाव समझकर अपने मुँह को उसके कान के पास ले गए। फिर मीठे स्वर में बोले—"फटिक! तेरी माँ को बुला लाने के लिए मैंने आदमी भेज दिया है।"

उसके बाद दूसरा दिन भी व्यतीत हो गया। डाक्टर ने चिन्तित तथा उदास होकर विश्वम्भरबाबू को बताया—"रोगी की हालत बहुत चिन्ता-जनक है।"

टिमटिमाते हुए दीपक के सामने रोगी के बिछौने के समीप बैठे हुए विश्वम्भर बाबू फटिक की माँ के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर खलासियों की भाँति स्वर बनाकर फटिक कह रहा था—"इधर नहीं मिलता, यह नहीं है।" कलकत्ते आते समय मार्ग में कुछ दूर स्टीमर से भी आना पड़ता था। वहाँ खलासी रस्सा फेंककर चिल्लाते हुए पानी को नाप रहे थे। उसी भाँति इस समय फटिक भी उनका अनुसरण करके, मानो जल नापता हुआ न जाने क्या-क्या बक रहा था ? इस समय वह

अथाह समुद्र से निकल रहा था, परन्तु रस्सा गिराकर भी कहीं थाह नहीं पा रहा था।

उसी समय फटिक की माँ ने शीघ्रतापूर्वक कमरे में प्रवेश किया। आते ही वह उच्च स्वर से रोने लगी। बड़े कष्ट से विश्वम्भर बाबू ने उन्हें जैसे-तैसे शान्त किया। वह फटिक की शैया पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और उच्च स्वर से पुकार उठी—"फटिक ! मेरे बेटे, मेरे लाल !"

तभी फटिक ने मानो अत्यन्त शरलतापूर्वक उत्तर देते हुए कहा–"एँ!"

माँ फिर बोली—"अरे, फटिक ! मेरे प्यारे बेटे !"

फटिक ने धीरे से करवट बदली। फिर आँख बन्द किए हुए ही मधुर स्वर में कहा—"माँ अब मेरी छुट्टी हो गई है, मैं घर जा रहा हूँ।"

# दहेज

पाँच लड़कों के पश्चात् जव एक कन्या का जन्म हुआ तो माता-पिता ने बड़े चाव से उसका नाम 'निरुपमा' रक्खा। ऐसा सुन्दर नाम इस परिवार में किसी का नहीं रक्खा गया था। प्रायः गणेश, कार्तिक, पार्वती आदि देवी-देवताओं के नामों पर ही नाम रक्खे जाते थे।

अव निरुपमा व्याह के योग्य हो गई है। उसके पिता रामसुन्दर को वहुत खोज करने पर भी उनकी पसन्द का कोई वर नहीं मिला। अन्त में किन्ही रायवहादुर के एकमात्र पुत्र का पता लगा। हाँलाकि रायवहादुर की पैतृक सम्पत्ति वहुत कम हो गई थी, फिर भी वंश मर्यादा पहले की तरह ऊँची थी।

रायवहादुर ने दस हजार रुपए का दहेज तथा वहुत-सी दान सामिग्री की माँग की। रामसुन्दर ने विना विचार किए ही उनकी वातें मंजूर करलीं। आखिर ऐसा वर कहाँ मिलेगा ?

रामसुन्दर किसी प्रकार भी रुपयों का प्रवन्ध न कर सके। गिरवी रखकर कर्ज लेकर भी सात हजार रुपयों की कमी पड़ रही थी। इधर विवाह का दिन भी समीप आ रहा था।

अन्त में व्याह का दिन भी आ गया। एक आदमी अधिक व्याज पर रुपया उधार देने को राजी होगया था, परन्तु मौके पर वह भी नहीं आया। विवाह मंडप में हलचल मच गई। रामसुन्दर, रायवहादुर के पैर पकड़कर वोले—"इस शुभ कार्य के सम्पन्न होते ही मैं रुपया दे दूँगा।" रायवहादुर

ने उत्तर दिया—"दूल्हा तब तक मंडप के अन्दर नहीं जाएगा जब तक सब रुपए नहीं मिल जाएँगे।" इस दुर्घटना से अन्दर स्त्रियों में भी हलचल मच गई। परन्तु ऐसी दशा में इस घटना की नायिका चुपचाप बैठी थी। यह कहना कठिन है कि उसके मन में अपने भावी श्वसुर के प्रति भक्ति पैदा हो रही थी या विराग।

इसी बीच में एक सुविधा हुई। सहसा दूल्हा अपने पिता के विरुद्ध होगया। वह बोला—' मैं यहाँ विवाह करने आया हूँ, विवाह करके ही लौटूँगा, मुझे लेन-देन के बारे में कुछ नहीं मालूम।" उसके पिता हर एक से यही कहते—"आपने देखा महाशय जी, आजकल के लड़कों के व्यवहार को ?" कुछ विद्वान् व्यक्ति थे, बोले—"आजकल शास्त्र-शिक्षा अथवा नीति-शिक्षा बिल्कुल भी नहीं रही है।"

रायबहादुर वर्तमान शिक्षा का विशाक्त फल अपने ही पुत्र में देखकर निराश होगए। किसी प्रकार विवाह सम्पन्न हुआ। निरुपमा के ससुराल जाते समय रामसुन्दर अपनी पुत्री को छाती से लगाकर रोने लगे। निरुपमा ने पूछा—"पिताजी ! अब वे लोग क्या मुझे यहाँ आने देंगे ?" रामसुन्दर ने उत्तर दिया—"हाँ बेटी, क्यों नहीं ? मैं तुमको लेकर आऊँगा।"

रामसुन्दर जब भी अपनी बेटी के घर जाते हैं, वहाँ उनका समुचित आदर नहीं होता। कभी-कभी तो उन्हें निरुपमा से बिना मिले ही लौट आना पड़ता। रामसुन्दर ने यह सोचकर, कि सम्बन्धी के यहाँ अपमान असह्य है, निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो दहेज के रुपए चुकाने पड़ेंगे। परन्तु जो ऋण पहिले से ही चढ़ा हुआ है, उसका बोझ ही असहनीय हो रहा था। रामसुन्दर कर्जदारों को नाना प्रकार के हीन कौशलों से किसी प्रकार दूर करते।

ससुराल में निरुपमा को रोज खरी-खोटी सुननी पड़ती थीं। अपने पिता के यहाँ की निन्दा सुन-सुनकर वह नित्य रोया करती थी।

विशेषकर उसकी सास का क्रोध किसी प्रकार भी समाप्त नहीं हो रहा था। यदि कोई कहता कि बहू कितनी सुन्दर है ? तो वह झट कहती—"जैसे

घर की बहू है, वैसी ही सुन्दर न होगी।" वहाँ पर बहू के खाने पीने की किसी को भी चिन्ता न थी। यदि कोई दयावश उनकी गलतियों का उल्लेख करती, तो सास उत्तर देती कि जो मिलता है वही बहुत है; यदि उसका बाप पूरा दहेज देता तो वहां इसको भी पूरा आदर मिलता।" सभी ऐसा भाव प्रदर्शित करते जैसे वहू यहाँ धोके से आ गई हो, यहाँ उसका कोई अधिकार नहीं है।

रामसुन्दर अपनी कन्या के अनादर की बात सुनकर मकान बेचने की व्यवस्था करने लगे, परन्तु उन्होंने यह बात अपने लड़कों को नहीं बताई। उन्होंने निश्चय किया था कि मकान को बेचकर उसी को फिर किराए पर ले लेंगे जिससे कि लोगों को पता न चलेगा। परन्तु लड़कों को इस बात का पता चल गया। वे आए और रोने लगे। विशेषरूप से उनके तीन लड़के, जिनकी शादी हो चुकी थी, मकान बेचने के विरुद्ध थे। इस प्रकार मकान बेचना स्थगित रहा। तब रामसुन्दर चारों ओर से रुपए उधार लेने का प्रबन्ध करने लगे।

निरुपमा पिता का मुख देखकर सब समझ जाती। बूढ़े पिता के शुष्क मुँह पर सदैव संकुचित भाव से परिपूर्ण दैन्य तथा दुश्चिन्ता स्पष्ट दीख जाती थी। पिता जब अपनी लड़की के पास अपराधी हो तो उस अपराध के मनस्ताप को कहाँ तक छिपाया जा सकता है? जब उसके पिता रामसुन्दर निरुपमा से ससुर की अनुमति पाकर मिलते तो उनका हृदय किस तरह तड़फता, इसका अनुमान उनकी हँसी देखकर ही किया जा सकता है। निरुपमा अपने पिता के व्यथा से भरे हुए हृदय को शान्त करने के लिए पिता के घर जाने के लिए व्याकुल हो उठती। वह पिता का मलिन मुख देखकर दूर नहीं रह सकती थी। एक दिन अपने पिता से वह बोली—"पिताजी, मुझे एक बार घर ले चलिए।" रामसुन्दर ने कहा—"अच्छा।"

परन्तु रामसुन्दर परवश थे। उनका अपनी पुत्री पर जो स्वाभाविक अधिकार था, वह मानो दहेज के रुपयों के बदले गिरवी रक्खा जा चुका था। यहाँ तक कि कन्या के दर्शनों के लिए भी उन्हें संकोच के साथ अनुमति माँगनी

पड़ती थी। परन्तु लड़की अपने घर आना चाहे तो पिता उसे बिना लाए कैसे रह सकता है? रामसुन्दर ने इसलिए कितना ही अपमान और हीनता सहकर तीन हजार रुपए एकत्रित किए। इस रहस्य को यदि गुप्त ही रक्खा जाय तो अच्छा है।

रामसुन्दर उन रुपयों को रूमाल में बाँधकर तथा चद्दर लपेटकर अपनी पुत्री के यहाँ गए। प्रथम उन्होंने हँसकर पास-पड़ोस के समाचार कहे। हरेकृष्ण के घर जो चोरी हो गई थी, उसकी बात आदि से अन्त तक कही। नवीन माधव एवं राधामाधव दोनों भाइयों की तुलना करके विद्या, बुद्धि एवं स्वभाव के विषय में राधामाधव की बड़ाई तथा नवीन माधव की निन्दा की। शहर में पैदा हुई एक नई बीमारी के विषय में भी उन्होंने जो सुना था, वर्णन किया। अन्त में, हुक्के को एक ओर रखकर वे बोले—"अरे हाँ, वे रुपए शेष पड़े हैं। रोज ही सोचता था कि जा रहा हूँ कुछ साथ ले लूँ, परन्तु समय पर कुछ याद ही नहीं रहता था, और भैया, बूढ़ा भी तो हो चुका हूँ। ऐसी एक लम्बी भूमिका के पश्चात् पंजर के तीन हाड़ की भाँति तीन नोट मानों अति सहज सरलता से निकाल दिए। रायबहादुर केवल तीन हजार रुपए देखकर अट्टाहास करके बोला—"अरे भाई, रहने दो, इसकी मुझे जरूरत नहीं है।" वे एक प्रचलित कहावत का उल्लेख करते हुए बोले कि छोटी-सी वस्तु के लिए वे अपने हाथ मैले नहीं करना चाहते।

इस घटना के पश्चात् कन्या को घर ले जाने का प्रस्ताव कोई कह ही नहीं सकता। केवल रामसुन्दर ही ऐसे थे, उन्होंने सोचा कि अब मुझे यह संकोच शोभा नहीं देता है। उन्होंने बहुत देर तक चुप रहने के पश्चात् धीरे-से अपना उद्देश्य कहा। रायबहादुर कोई कारण न बताते हुए बोले कि यह अभी नहीं होगा। फिर किसी काम के बहाने कहीं चले गए। रामसुन्दुर पुत्री के पास जाकर काँपते हुए हाथों से नोटों को पुनः रूमाल में बाँधकर, अपने घर लौट आए। उन्होंने मन-ही-मन प्रण किया कि जब तक उनके सम्पूर्ण रुपए नहीं चुका दूँगा, तब तक कन्या के घर नहीं जाऊँगा। इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया। निरुपमा अपने पिता के पास आदमी भेजती, परन्तु वे

नहीं आते, अन्त में निरुपमा ने अपमानवश वहाँ आदमी भेजना बन्द कर दिया। रामसुन्दर को यह देखकर अत्यन्त दुख हुआ, परन्तु फिर भी वे नहीं गए।

रामसुन्दर ने आश्विन मास में प्रतिज्ञा कर ली कि इस बार दुर्गा पूजा के शुभ अवसर पर निरुपमा को अवश्य ले आऊँगा। वे पंचमी या षष्ठी के दिन उनके यहाँ जाने का आयोजन कर रहे थे। इसी समय उनकी पाँच वर्ष की नातिनी आकर बोली—"दादा, मेरे लिए साड़ी खरीदने जा रहे हो!" छै वर्ष की नातिनी ने भी एक साड़ी माँग की। उसके पास पूजा के अवसर पर पहिनने के लिए कोई अच्छी साड़ी नहीं थी।

रामसुन्दर यह जानते भी थे तथा इसके विषय में सोचते भी थे, परन्तु उनके मस्तक पर वार्धक्य की रेखा गम्भीर रूप से अंकित होने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं निकलता था।

दरिद्रता से पीड़ित घर की क्रन्दन ध्वनि को कानों से सुनते हुए रामसुन्दर रायबहादुर के घर पहुँचे। आज उनके चेहरे पर संकोच के चिन्ह नहीं थे, वे मानो अपने ही घर में प्रवेश कर रहे हैं। उन्हें मालूम हुआ कि रायबहादुर घर पर नहीं है, बैठना पड़ेगा। अपने आनन्द को छिपाने में असमर्थ होकर वे अपनी पुत्री से मिले। उनकी दोनों आँखों से जलधारा बहने लगी। पिता-पुत्री दोनों रो रहे थे। रामसुन्दर ने कहा—"बेटी, इस बार मैं तुम्हें अवश्य ले जाऊँगा। अब कोई रुकावट नहीं है।" इसी समय रामसुन्दर का बड़ा लड़का हरमोहन अपने दो छोटे बच्चों को साथ लेकर, सहसा घर के अन्दर आकर पिता से बोला—"अब तो आपने हम लोगों को रास्ते पर ही खड़ा कर दिया है।"

रामसुन्दर सहसा क्रोधित होकर बोले—"मैं तुम लोगों के लिए क्या नरक में जाऊँ? क्या तुम लोग सत्य-पालन भी नहीं करने दोगे?" रामसुन्दर मकान बेचकर आए थे। किसी प्रकार लड़कों को इस बात का पता न चले, इसका भी प्रबन्ध वे कर आए थे, परन्तु फिर भी बात प्रकट हो ही गई। रामसुन्दर को यह देखकर बहुत क्रोध आ रहा था।

रिरुपमा सारी स्थिति समझकर पिता से बोली—"पिताजी, यदि

आपने मेरे ससुर को एक पैसा भी दिया तो मैं आपका शरीर स्पर्श करके कहती हूँ कि आप अपनी कन्या का मुख फिर कभी नहीं देख सकेंगे।"

रामसुन्दर बोले—"वेटी, ऐसी वात नहीं कहा करते हैं। यदि मैं तुम्हारे श्वसुर को रुपए न दूँ तो इससे तुम्हारा और तुम्हारे पिता का अपमान होगा।"

निरुपमा वोली—"यदि रुपए दोगे तव भी अपमान होगा। क्या तुम्हारी वेटी की कोई मर्यादा ही नहीं ? मैं क्या रुपयों की थैली हूँ, जिसमें जव तक रुपया रहता है तभी तक कीमत रहती है ? पिताजी ! नहीं, इस प्रकार यह रुपए देकर तुम मेरा अपमान मत करो। फिर मेरे पति तो यह रुपए नहीं चाहते हैं।"

रामसुन्दर ने कहा—"वेटी तव तो तुम्हें यह लोग यहाँ से नहीं जाने देंगे।"

निरुपमा वोली—"नहीं जाने देगें तो क्या उपाय है ? आप भी मुझे लेने न आया करें।"

रामसुन्दर काँपते हुए हाथों से अपनी चद्दर को कन्धे पर डालकर चुपचाप लौट आए।

परन्तु यह वात कि रामसुन्दर रुपए लेकर आए थे तथा अपनी पुत्री के कहने पर लौट गए, किसी से छिपी न रह सकी। किसी दासी ने यह वात सुनकर निरुपमा की सास से कह दी थी, जिसे सुनकर सास का क्रोध सीमा को पार कर गया।

निरुपमा के लिए उसकी ससुराल काँटों की शैया के समान हो उठी। उसके पति डिप्टी मजिस्ट्रेट होकर चले गए थे। निरुपमा के घर वाले उनसे मिल नहीं सकते थे।

इसी समय निरुपमा को एक भारी पीड़ा का अनुभव हुआ। उसके मन में यह धारणा घर कर चुकी थी कि वह दूसरे के घर में दासी-बांदी के समान रही है इसलिए वह अपने शरीर के प्रति बिलकुल ध्यान नहीं देती थी। परन्तु सास को यह भी सहन नहीं हुआ। वह वोली—"नवावजादी है,

इसलिए गरीबों के घर कर का भोजन अच्छा नहीं लगता है।" कभी कहती इसका ढ़ोंग को तो देखो, दिन पर दिन सूखती चली जा रही है।"

रोग अधिक बढ़ता हुआ देखकर सास बोली—"यह सब इसका ढ़ोंग है।"

अन्त में एक दिन निरुपमा सविनय बोली—"माँ मैं एक बार अपने पिता तथा भाइयों से मिलना चाहती हूँ।"

सास बोली—"यह सब बाप के घर जाने की चाल है।"

जिस दिन शाम को निरुपमा की श्वाँस उखड़ने लगी, उसी दिन पहली बार उसे देखने को डाक्टर आया। यही अन्तिम देखना कोई कहे तो इस बात पर विश्वास नहीं होगा।

घर की बड़ी बहू मरी है, इसलिये खूब धूमधाम से अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न हुई। सभी लोगों ने रामसुन्दर को धैर्य बँधाते समय कहा—"उसकी बेटी की कैसे समारोह के साथ मृत्यु हुई है।"

इधर डिप्टी मजिस्ट्रेट का पत्र आया कि मैंने यहाँ सब प्रबन्ध कर लिया है, शीघ्र ही मेरी स्त्री को यहाँ भेज दीजिए। रायबादुर की पत्नी ने लिखवाया—"बेटा, तुम्हारे लिए एक और लड़की देख रक्खी है। छुट्टी लेकर शीघ्र चले आओ। इस बार बीस हजार का दहेज मिलेगा और वह भी नकद।"

---

# जयमाल

राजपुत्री का नाम अपराजिता है। उदयनारायण के राजकवि शेखर ने उन्हें कभी नहीं देखा है। परन्तु जिस दिन वे कोई नया काव्य राजा को सुनाते तो सभा स्थल में बैठकर अपने कण्ठ स्वर को इतना ऊँचा कर लेते, जिससे ऊपर वातायनिवर्तिनी अदृश्य श्रोतियों के कानों में भी जा सके। मानो वे किसी एक अगम्य नक्षत्र लोक को उद्देश्य करके अपना संगीतच्छवास प्रेरित कर रहे हैं, जहाँ ज्योतिषी मण्डली में उनके जीवन का शुभ ग्रह अदृश्य महिमा से विराज रहा है।

कभी छाया की भाँति देख पाते, कभी उन्हें नूपुरों की ध्वनि सुनाई देती। वे बैठकर सोचते, वे नूपुर बँधे हुए चरण कैसे होंगे जो ताल पर गीत गुनगुना रहे हैं।' उन दो अरुण निर्मल कोमल चरणों के प्रति पदक्षेप में कितना सौभाग्य, कितना अनुग्रह कितनी करुणा, पृथ्वी कोण स्पर्श कर रही है। कवि अपने हृदय में उन चरणों की प्रतिष्ठा करके अवसर के समय उनकी नूपुरशिंजन से गीत लिखता।

परन्तु जो छाया देखी थी, जिन नूपरों की ध्वनि सुनी थी, वह किसकी छाया, किसके नूपुर हैं, भक्त के हृदय मैं ऐसा तक कभी नहीं उठा था।

राजपुत्री की दासी मञ्जरी जब घाट पर जाती तो उसे शेखर के घर के सामने से होकर जाना पड़ता। कवि की उससे आते-जाते दो चार बातें अवश्य हो जातीं। वैसे, निर्जनता देखकर वह कभी-कभी शेखर के घर के अन्दर भी जाकर बैठती थी। वह जितनी बार घाट पर जाती

उसे उतनी ही वार ग्रावश्यकता थी ऐसा नहीं लगता था। यदि ग्रावश्यकता थी तो भी घाट जाते समय विशेष यत्न से एक रङ्गीन वस्त्र पहिनने तथा कानों में दो ग्राम्रमुकुल लगाने का कोई उचित कारण नहीं मिलता था।

लोग हँसते तथा काना-फूसी करते। इसमें लोगों का कोई दोष नहीं था। शेखर मञ्जरी को देखकर वहुत प्रसन्न होता तथा इस प्रसन्नता का प्रयास वह नहीं करता।

उसका नाम मञ्जरी था, साधारण लोगों के लिए विवेचना करके देखने पर यह नाम ही यथेष्ट था। परन्तु शेखर उसे कवित्व के साथ वसन्त-मञ्जरी कहता।

लोग सुनकर मुस्कराते तथा कवि की वसन्त वर्णन में 'मंजुल वंजुल मञ्जरी' ऐसे ग्रनुप्रास भी वीच-वीच में मिलते। यहाँ तक कि यह जनरव राजा के कानों में भी गया था।

राजा ग्रपने कवि के इस ज्ञान का परिचय पाकर ग्रौर भी ग्रानंदित हुए—इसे लेकर वे कौतूहल करते। शेखर भी उसमें भाग लेता।

राजा हँसकर पूछते—"क्या भ्रमर वसन्त की राजसभा में ही गीत गाया करता है ?"

कवि उत्तर देता—"नहीं महाराज, पुष्प मञ्जरी का मधु भी चखा करता है।"

इसी प्रकार सभी कवि से चुटकी लेकर ग्रानन्दित होते। ग्रन्तःपुर में भी राजकन्या ग्रपराजिता मञ्जरी से उपहास करती, परन्तु मञ्जरी इससे ग्रसन्तुष्ट नहीं होती थी। मनुष्य का जीवन इसी प्रकार झूठ एवं सत्य में मिलकर एक तरह से व्यतीत हो जाता है—कुछ विधाता गढ़ता है, कुछ स्वयं वन जाता है, तथा कुछ पाँच ग्रादमी मिलकर वना देते हैं। इस प्रकार पञ्च-मेल है, प्राकृत एवं ग्रप्राकृत, काल्पनिक तथा वास्तविक।

कवि जिन गीतों का गान करते थे केवल वे ही सत्य एवं सम्पूर्ण थे। गीतों का विषय वही राधा ग्रौर कृष्ण—वही चिरन्तन नर एवं चिरन्तन नारी, वही ग्रनादि दुःख तथा ग्रनन्त सुख था। वैसी ही यथार्थ रूप से उनकी

अपनी बात थी और उन गीतों का अर्थ अमरापुर के राजा से लेकर दीन प्रजा तक ने अपने हृदय में अनुभव किया था। कवि के वे गीत हर एक के मुँह पर थे। उनकी ख्याति की सीमा नहीं थी, वे रुचिर गीत चाँदनी खिलते ही, ज़रा दक्षिण हवा का झोंका आते ही देश के समस्त उद्यानों में कितनी सड़कों पर कितनी नौकाओं पर मुखरित हो उठते।

इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया। कभी काव्य रचना करते, राज्य सभा के लोग 'धन्य-धन्य' कहते, मञ्जरी घाट पर आती—तथा अन्तः-पुर के वातायान से कभी-कभी एक छाया पड़ती, कभी-कभी एक नूपुर की ध्वनि सुनाई पड़ती। इसी समय दक्षिण दिशा से दिग्विजयी कवि शार्दूल-विक्रीड़ित छन्द में राजा की स्तुति करते हुए राज-सभा में पधारे। वे स्वदेश से होते हुए मार्ग में आए हुए सभी देश के राजकवियों को परास्त करके अन्त में अमरापुर में आए हैं।

राजा ने परम आनंद से कहा—"पधारिए, पधारिए।"

कवि पुण्डरीक ने दम्भ से कहा—"युद्ध देहि।"

राजा का सम्मान रखने के लिए काव्य युद्ध करना ही पड़ेगा। परन्तु इस युद्ध के विषय में शेखर भली प्रकार कुछ नहीं जानते थे। वे चिंतित तथा शङ्कित हो उठे। रात को नींद नहीं आई। यशस्वी पुण्डरीक का दीर्घ वलिष्ट शरीर पर सुतीक्ष्ण वक्र नासिका तथा दर्प से उद्धत मस्तिक उन्हें सर्वत्र दिखाई देने लगा।

कवि ने प्रातःकाल काँपते हुए हृदय से रणक्षेत्र में प्रवेश किया, प्रभात होते ही सभा-स्थल लोगों से भर गया था। नगर के अन्य समस्त काम-काज बन्द हो गए।

कवि शेखर ने अत्यन्त कष्ट से मुख पर प्रसन्नता लाकर कवि पुण्डरीक को नमस्कार किया। पुण्डरीक ने पूरी अवज्ञा के साथ केवल इङ्गित मात्र से प्रति नमस्कार किया तथा अपने अनुवर्ती भक्तों की ओर देखकर मुस्कराया।

शेखर ने एकबार अन्तःपुर के वातायन की ओर कटाक्ष से देखा—वे समझ गए कि वहाँ से आज अनेकों कौतूहलपूर्ण कृष्णतारिकाओं की

दृष्टि इसी जनता पर पड़ रही है। एकबार एकाग्रभाव से चित्त को उसी ऊर्ध्वलोक में स्थित करके अपनी विजय की वन्दना कर आए। मन-ही-मन बोले—"हे देवी, हे अपराजिता, यदि मैं आज विजय प्राप्त करूँ तो उससे तुम्हारा ही नाम सार्थक होगा।"

भेरी बज उठी। सभागण जयध्वनि करते हुए खड़े हो गए। राजा उदयनारायण शरत् प्रभात के शुभ्र मेघ की भाँति धीरे-धीरे सभा में आकर सिंहासन पर विराजमान हुए।

पुण्डरीक उठकर सिंहासन के सम्मुख आकर खड़े हो गए। समस्त सभा शान्त हो गई।

विराट मूर्ति पुण्डरीक वक्षविस्फारित करके, ग्रीवा को ऊँची उठाकर महाराज उदय नारायण की स्तुति पढ़ने लगे। सभास्थल में उनका कण्ठ-स्वर गुञ्जरित होने लगा, तथा उसी कण्ठ-स्वर के ध्वनि-वेग से समस्त जन-समुदाय विस्मय से निर्वाक् हो गया। उदयनारायण के नाम की अनेक प्रकार से व्याख्या की, राजा स्तुति के नाम से अक्षरों से कितने छन्द कितने विन्यास, एवं यमक हो सकते हैं, इस पर भी बहुत सुन्दर ढङ्ग से प्रकाश डाला।

पुण्डरीक के बैठ जाने के पश्चात् बहुत देर तक उनके गम्भीर कण्ठ-स्वर की प्रतिध्वनि सभा-स्थल में गूँजती रही दूर-दूर देशों से आए हुए पंडितों ने सीधा-हाथ उठाकर साधुवाद दिया।

सिंहासनारूढ़ राजा उदयनारायण ने एक बार शेखर की ओर दृष्टिपात किया। शेखर ने भी भक्ति, प्रणय, अभिमान तथा एक प्रकार की सकरुण, संकोचपूर्ण दृष्टि से राजा की ओर देखा और फिर धीरे-धीरे खड़े हो गए। जिस प्रकार राम ने लोकरंजनार्थ सीता की दूसरी बार परीक्षा करनी चाही थी तो वह मानो इसी प्रकार अपने स्वामी की ओर देखती हुई सिंहासन के सम्मुख खड़ी हो गई थीं।

कवि की दृष्टि ने नीरज भाव से कहा—"मैं तुम्हारा ही हूँ। यदि तुम

संसार के सम्मुख मेरी परीक्षा लेना चाहते हो तो लो। परन्तु..." इसके पश्चात् आँखें नीचे कर लीं।

पुण्डरीक शेर की भाँति खड़े थे। शेखर चारों ओरसे घिरे व्याधवेष्ठित मृग की भाँति खड़े हुए थे। तरुण युवक, रमणी की भाँति लज्जा एवं स्नेहयुक्त कोमल मुख, पांगुवर्ण कपोल, ऐसा प्रतीत होता था मानो भाव के स्पर्शमात्र से ही समस्त देह वीणा के तार के समान झनझना उठेगी।

शेखर ने मुख नीचे किए हुए धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया। प्रथम श्लोक शायद कोई भी भली प्रकार न सुन सका। इसके पश्चात् धीरे-धीरे मुख ऊपर किया। सुभिष्ट स्पष्ट कंठ-स्वर काँपते-कांपते मानों अग्निशिखा के समान बढ़ने लगा। सर्वप्रथम शेखर ने राजा के चन्द्रवंशी आदि पुरुषों के विषय में कहा। इसके पश्चात् धीरे-धीरे अनेक युद्धों की कथा, यज्ञदान एवं अनुष्ठानों की कथा सुनाकर अपनी राजकथा को वर्तमान काल में ले आए। अन्त में अपनी दृष्टि को राजा के मुख पर निबद्ध करके प्रजा के हृदयों की एक वृहत् अव्यक्त प्रीति को भाषा के छन्द में मूर्तिमान करके सभा के मध्य खड़ा कर दिया—मानो दूर-दूर से शत-सहस्र प्रजाओं का हृदय शब्द रचनामय राज-पितामहों के इस अति पुरातन प्रसाद के महासंगीत से भर दिया। अन्त में शेखर ने कहा—"महाराज—"महाराज, मैं शब्द-रचना में पराजय स्वीकार कर सकता हूँ, परन्तु भक्ति में मुझे कौन पराजित करेगा ?" यह कहकर कंपित देह लेकर वे बैठ गए। प्रजागणों ने जय-जयकार किया।

पुण्डरीक साधारण जन समुदाय की इस उन्मत्तता को धिक्कारपूर्ण हास्य द्वारा अवज्ञा करके पुनः खड़े हो गए। तीव्र स्वर में बोले—वाक्य से श्रेष्ठ कौन है ?" समस्त राज सभा स्तब्ध हो गई। इसके पश्चात् पुण्डरोक ने अनेक छन्दों में वेद-वेदान्त आगम एवं निगम से यह प्रमाणित कर दिया कि वाक्य ही विश्व में श्रेष्ठ है।

इस प्रकार पाँडित्य के ऊपर पाँडित्य और शास्त्र के ऊपर शास्त्र को आरूढ़ कर वाक्य के लिए एक अभ्रभेदी सिंहासन का निर्माण किया तथा वाक्य को स्वर और मृत्युलोक के मस्तक पर बिठाकर पुनः वज्रध्वनि करके पुण्डरीक ने कहा—"वाक्य से श्रेष्ठ कौन है ?"

पुण्डरीक ने अहङ्कार से चारों ओर देखा, तथा जब किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया तो पुनः धीरे-धीरे आसन पर बैठ गए। पंडितगण 'साधु-साधु' एवं 'धन्य-धन्य' करने लगे। वे पुण्डरीक की विद्वत्ता को देख कर आश्चर्य चकित हो गए। कवि शेखर अपने आपको इस अकाट्य विद्वत्ता के सम्मुख क्षुद्र समझने लगा। इस प्रकार आज की सभा समाप्त हुई।

दूसरे दिन शेखर ने गीत गाना आरम्भ किया—वृन्दावन में प्रथम बार मुरली की मनोहर ध्वनि सुनाई पड़ी है, गोपियाँ यह नहीं जानती हैं कि मुरली कौन बजा रहा है तथा कहाँ बज रही है। एक बार ऐसा प्रतीत हुआ कि मुरली दक्षिण पवन में बज रही है, कभी गोवर्धन पर्वत शिखर से मधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे कि कोई उदयाचल पर खड़ा मिलने के लिए पुकार रहा है, मानो 'कि अन्याय क्रान्त पर कोई बैठा हुआ विरह-शोक में रुदन कर रहा है, मानो यमुना की प्रत्येक लहर में वंशी बज उठी है, मानो नभ का प्रत्येक तारा उस मुरली का छिद्र है। अन्त में कुंज-कुंज में सड़कों पर फल और पुष्पों में, जल और थल में, भीतर और बाहर सर्वत्र वह मुरली बजने लगी—मुरली कौन सा गीत गा रही है यह कोई नहीं समझ सका, तथा मुरली के गीत के उत्तर में हृदय में क्या कहना चाहता है वह भी कोई स्थिर नहीं कर सका, केवल दोनों आँखों में अश्रु छल-छला आए तथा एक अभ्रलोग सुन्दर श्याम स्नीन्द मृत्यु की आकांक्षा से सारा शरीर; हृदय उत्कंठित हो गया।

कवि शेखर राज-सभा को भूल गए, आत्म-पक्ष एवं प्रति-पक्ष भूल गए, यश-अपयश, जय-पराजय, उत्तर-प्रत्युत्तर, सब भूलकर केवल अपने गीतों को भूल गए, मानो अपने हृदय निकुंज में एकान्त में वे इस मुरली का गीत गा रहे हैं। केवल एक ज्योतिमयी मानस-मूर्ति का स्मरण था, जिसके नूपुर की ध्वनि उनके कानों में ध्वनित हो रही थी। कवि जब गीत समाप्त करके बैठ गए तो एक अनिर्वचनीय माधुर्य, एक बृहत् व्याप्त विरह-व्याकुलता से राज-सभा परिपूर्ण हो उठी—कोई भी साधुवाद नहीं दे सका।

थोड़ी देर के पश्चात् पुण्डरीक उठे। प्रश्न किया—"राधा कौन है

तथा कृष्ण कौन है ?" इसके पश्चात् स्वयं ही अपने प्रश्न का उत्तर देने लगे, बोले—"राधा प्राण व ओङ्कार कृष्ण, ध्यानयोग एवं वृन्दावन दोनों भ्रवों के मध्य का स्थान है।" फिर इड़ा, सुषुम्ना, पिंगला, नाभिपद्म, हृद्पद्म, ब्रह्मक्रन्धन सभी का दृष्टान्त उपस्थित किया। 'रा' का क्या अर्थ है तथा 'धा' का क्या अर्थ है, कृष्ण शब्द के 'क' से लेकर मूर्धन्य 'ण' तक जितने अक्षर है, प्रत्येक के कितने विभिन्न अर्थ हो सकते हैं—इसकी व्याख्या की। कृष्ण को एक बार यज्ञ तथा राधा को अग्नि बताया, एक बार कृष्ण को वेद तथा राधा को षट्दर्शन तथा इसके पश्चात् कृष्ण को शिक्षा तथा राधा को दीक्षा बताया। राधा तर्क है तो कृष्ण मीमाँसा है, राधा उत्तर-प्रत्युत्तर है तो कृष्ण जयमाल है।

पुण्डरीक राजा की ओर, पंडितों की ओर तथा कठोर हास्य से शेखर की ओर देखते हुए यह कह कर बैठ गए।

राजा पुण्डरीक की अपूर्व विद्वता से मुग्ध हो गए, पंडितों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा तथा राधा एवं कृष्ण की नई-नई व्याख्याओं से मुरली के बीच यमुना कल्लोल, प्रेम का मोह एक दम दूर हो गया, जैसे पृथ्वी के ऊपर से कोई वसंत की हरियाली को उजाड़ता पवित्र गोमय लेपन करता हुआ चला गया।

शेखर अपने अब तक के गीतों को व्यर्थ समझने लगे। इसके पश्चात् उनमें गीत गाने की शक्ति न रही। इस प्रकार उस दिन सभा भङ्ग हुई।

पुण्डरीक ने उस दिन व्यस्त एवं समस्त, द्विव्यस्त एवं द्विसमस्त, व्रत्त, तार्क्ष्य, सौत्र, चक्र, पद्म, काकपद, आद्युत्तर, मध्योत्तर, अन्तोत्तर, वाक्योत्तर, लोकोत्तर, वचनगुप्त, मात्राच्युत्त, च्युतदत्ताक्षर, अर्थगूढ़, स्तुत निन्दा, अपनहुती, शुद्धाभ्रन्स, शाब्दी, कालसार, प्रेहेलिका, प्रभ्रति अद्भुत शब्दों का अर्थ बता कर शब्द चातुर्य प्रदर्शित किया। पुण्डरीक के इस पाँडित्य को देख कर राज-सभा मन्त्र, मुग्ध हो गई।

शेखर के लिखे हुए पद्य सरल थे, उन्हें दुःख-सुख में सर्व साधारण व्यवहार करते थे। आज उन्होंने विचार किया उनमें कोई पाँडित्य नहीं है,

जैसे वे लोग भी इच्छा करते ही लिख सकते थे, केवल बिना अभ्यास के अनिच्छा तथा अनअवसर के कारण ही नहीं हो पाया।

इन गीतों के शब्दों में कोई नवीनता नहीं है। इससे पृथ्वी के लोगों को कोई शिक्षा नहीं मिलती। परन्तु आज जो कुछ सुना वह अपूर्व था, जो कल सुना था वह भी अद्भुत था। पुण्डरीक के समक्ष शेखर का अपना कवित्व एक बालक के समान लग रहा था।

शेखर ने अपने चारों ओर के लोगों के मन के भावों को उसी प्रकार समझ लिया, जिस प्रकार जल में मत्स्यपुच्छ की ताड़ना से जो गूढ़ आन्दोलन होता है उसे सरोवर का कमल समझ लेता है।

आज अन्तिम दिन है, जय-पराजय का निर्णय होगा। राजा ने अपने कवि की ओर तीव्र दृष्टि से देखा। उसका सारांश था—"आज शान्त रहने से काम नहीं चलेगा, तुम्हें यथासाध्य प्रयत्न करना होगा।"

कवि शेखर शान्त, भाव से उठ खड़े हुए, तथा केवल इतना ही बोले— "वीणा-पाणि श्वेत-भुजा, यदि तुम अपने कमल-वन को छोड़कर मल्ल-भूमि में आई हो तो अमृत के प्यासे उन भक्तों का क्या होगा। शेखर ने मुँह उठाकर करुण स्वर में कहा। जैसे श्वेत भुजा, वीणापाणि नत नेत्रों से राज के अन्तःपुर के वातायन के सम्मुख खड़ी हों।

पुण्डरीक ने तीव्र हास्य किया तथा शेखर शब्द के अन्तिम दो अक्षरों को लेकर बहुत से श्लोक बना दिए। इसके पश्चात् बोले—"पद्मवन तथा खर में क्या सम्पर्क है तथा संगीत की इतनी साधना करने के पश्चात् भी उक्त प्राणी ने क्या फल पाया है? और सरस्वती का अधिष्ठान भी पुण्डरीक में ही है, उन्होंने महाराज के अधिकार में कौन-सा अपराध किया है जो यहाँ उसे खरवाहन करके अपमानित किया गया है।"

इसके प्रत्युत्तर पर पंडितगण हँसने लगे। सभासदों ने भी उसके साथ हँसना आरम्भ किया तथा समस्त जन समुदाय इन लोगों की देखा-देखी हँसने लगा।

राजा इसके उपयुक्त प्रत्युत्तर के लिए अपने कवि शेखर को अंकुश

की भाँति तीक्ष्ण दृष्टि से ताड़ना करने लगे। परन्तु शेखर उसी भाँति अटल बैठे रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए।

राजा ने तब शेखर से मन-ही-मन असंतुष्ट होकर सिंहासन से खड़े हो कण्ठ से मुक्तमाला खोलकर पुण्डरीक के गले में पहना दी। सभा में उपस्थित जन समुदाय 'धन्य-धन्य' कह उठा, अन्तःपुर में एक साथ अनेकों नूपुर की ध्वनि सुन पड़ीं—शेखर उसी ध्वनि को सुनकर धीरे-धीरे सभास्थल छोड़ कर बाहर चले गए।

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि के अँधकार में पुष्प-गन्ध दक्षिण वायु के साथ उदार विश्व-वन्धु की भाँति नगर के घर-घर में प्रवेश कर रही है।

शेखर ने घर के लकड़ी की मंच से अपने काव्य-ग्रन्थों को उतार कर सामने स्तूपाकार कर रख दिया है। उनमें से अपने ग्रन्थों को अलग कर दिया। कुछ पुरानी रचनाएँ ऐसी थीं जो शेखर को याद भी न थीं। उन्हें वे तत्पर हो पलट कर पढ़ने लगे, आज यह सब अंकिचित-सा लग रहा था।

वे श्वाँस छोड़ते हुए बोले—"समस्त जीवन का यह संग्रह है। थोड़े से छन्द एवं वाक्यों का मिश्रण इनमें कोई सौन्दर्य, मानव का चिर आनन्द, किसी विश्व संगीत की प्रतिध्वनि, अपने हृदय का गम्भीर आत्म प्रकाश जो उनमें निवद्ध था–आज उन्हें नहीं दिखाई पड़ा। जिस प्रकार रोगी को कोई भी खाने की चीज रुचिकर नहीं लगती है, उसी प्रकार आज जो भी हाथ में आता उसे वे अलग रख देते थे। आज अँधेरी रात में राजा की मैत्री, लोक प्रसिद्धि, हृदय की दुराशा, कल्पना, कुहुक–सभी शून्य में विलीन हो गए।

शेखर ने अपने काव्य-ग्रन्थों को फाड़कर सामने की जलती हुई आग में फेंकना आरम्भ किया। सहसा उन्हें एक उपहास स्मरण हो आया, हँसते-हँसते बोले—"बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा अश्वमेध-यज्ञ करते हैं, आज मैं काव्य-मेध-यज्ञ कर रहा हूँ।" परन्तु तभी लगा कि यह तुलना ठीक नहीं हुई है। क्योंकि अश्वमेध-यज्ञ सब जगह विजय प्राप्त कराता है, तभी अश्वमेध होता है—जिस दिन मेरा कवित्व पराजित हुआ, उस दिन काव्यमेध यज्ञ करने बैठा हूँ—और भी आगे करना ठीक होता।

एक-एक कर समस्त काव्य-ग्रन्थ जला दिए। कवि अग्नि की ऊँची लपटों को देखकर अपने दोनों शून्य हाथों को ऊपर उठाकर बोले—"तुम्हें दिया, तुम्हें दिया। हे सुन्दरी अग्नि शिखा, तुम्हें ही दिया। तुम्हें ही, इतने दिनों तक सारी आहुति देता आया हूँ, आज सबको समर्पण कर रहा हूँ, तुम मेरे हृदय में बहुत दिनों से जल रही थीं। हे मोहनी, अनेक रूप धारण करने वाली, यदि स्वर्ण होता तो चमक उठता—परन्तु मैं तुच्छ तिनका हूँ, तभी आज जल कर भस्म हो गया हूँ।"

रात्रि अधिक हो गई। शेखर ने अपने घर के समस्त वातायन खोल दिए। वे अपने पसन्द के फूल सन्ध्या समय ही वाटिका से लाए थे। उन्हीं फूलों को बिछौने पर फैला कर घर चारों ओर प्रदीप जला दिए।

इसके पश्चात् मधु के साथ एक उद्भिद का जहर मिला कर पी गए तथा धीरे-धीरे शैया पर जाकर सो गए। शरीर मूर्छित एवं नेत्र बन्द होने लगे।

नूपुर-ध्वनि उठी। घर के भीतर दक्षिण वायु के साथ केश गुच्छों की एक सुगन्धि दौड़ पड़ी। कवि ने निमीलित नेत्रों से कहा—"देवि, क्या भक्त पर दया की है? आज इतने दिनों के पश्चात् दर्शन दिया है?"

एक सुमधुर स्वर कण्ठ से निकला—"कवि, आई हूँ।"

शेखर ने चौंक कर आँखें खोलीं। देखा, शैया के सम्मुख एक अपूर्व रूपवती रमणी-मूर्ति खड़ी है।

कवि मृत्युसमाच्छन्न वाष्पाकुल नेत्रों से स्पष्ट नहीं देख पाए। ऐसा प्रतीत हुआ, उनके हृदय की वह छायामयी प्रतिमा अन्दर से बाहर आकर मृत्यु के समय उसकी ओर स्थिर नेत्रों से देख रही है। रमणी बोली—"मैं राजकन्या अपराजिता हूँ।" कवि यह सुनकर अत्यन्त कष्ट के साथ उठ कर बैठ गए।

अपराजिता ने यह कहकर अपने कण्ठ से, अपने हाथों से बनाई हुई पुष्पमाला खोलकर कवि के गले में पहना दी, मरणाहत कवि शैय्या पर गिर पड़े।

# हड्डियों का ढाँचा

जिस कमरे में हम तीन लड़के सोते थे, उसके पास वाले कमरे में एक मनुष्य की हड्डियों का ढाँचा टगा रहता था। रात में हवा से उसकी हड्डियाँ एक-दूसरे से टकराकर खड़खड़ की आवाज करती थीं। हम कैम्पवेल मेडीकल स्कूल के एक विद्यार्थी से हड्डियों की रचना आदि के विषय में शिक्षा ले रहे थे क्योंकि हमारे पिता हमें सभी विज्ञानों की जानकारी कराने का निश्चय कर चुके थे। इसमें वे कहाँ तक सफलता प्राप्त कर सके, यह न कहना ही उचित है। तब से अब तक न जाने कितने वर्ष वीत गए। इस बीच उस कमरे से यह ढाँचा विना एक भी चिन्ह छोड़े लुप्त हो गया। साथ ही हमारे दिमाग से वह विद्या भी कहीं स्थानान्तर हो गई।

कुछ दिन हुए, एक दिन रात को किसी कारण वश स्थानाभाव से मुझे उसी पुराने कमरे में रात व्यतीत करनी पड़ी। मुझे इस कमरे में सोने की आदत नहीं थी, इसलिए नींद नहीं आ रही थी। करवटें वदलते-वदलते गिरजाघर का घण्टा वजकर रात का समाप्त होना सूचित कर रहा था। इससे पूर्व कमरे के अन्दर जो दीपक जल रहा था, वह वुझ गया। इसके पहिले भी हमारे घर में दो एक दुर्घटनाएँ हो चुकी थीं, इसलिए दीपक के वुझते ही स्वभावत: मेरा ध्यान मृत्यु की ओर आकर्षित हो गया। मैं सोचने लगा कि दीपक की ज्योति का किस प्रकार से गहन अँधकार में विलीन हो जाना तथा मनुष्य की इस छोटी-सी जिन्दगी का चिराग वुझ जाना समान बातें थीं।

मुझे फिर कुछ ढांचे का ध्यान हो आया। मैं अभी उसके विषय में सोच ही रहा था कि कपड़े पहिनाने से वह पिञ्जर कैसा लगेगा, कि सहसा मालूम हुआ जैसे कोई चीज मेरे बिस्तर के चारों ओर कमरे की दीवारों पर टटोल रही है। मुझे उसके श्वाँस शब्द स्पष्ट सुनाई दे रहे थे, शायद वह कोई चीज ढूँढ़ रही थी, जो उसे नहीं मिल रही थी।

धीरे-धीरे पदचाप भारी और हल्की होती जा रही थी। मुझे पूर्ण विश्वास था कि यह सब मेरे निद्राहीन मस्तिष्क की कल्पना मात्र है। फिर भी मेरा सारा शरीर यकायक रोमांचित हो उठा। मैं भय से छुटकारा पाने के लिए जोर से चिल्ला पड़ा—"कौन है ?"

वह पदचाप बिस्तरे के समीप रुकती-सी जान पड़ी, तथा एक मधुर आवाज सुनाई दी—"मैं हूँ, अपने अस्थि-पिञ्जर को ढूँढ़ने आई हूँ।"

मुझे अपनी ही कल्पना से उत्पन्न उस प्रेत आत्मा से भय खाना हास्यास्पद प्रतीत हुआ, अतः मैं तकिए को जोर से दबाते हुए बोला—"इतनी रात को खोज करने का तुमने यह अच्छा काम ढूँढ़ निकाला है। परन्तु यह ढाँचा अब तुम्हारे किस काम आएगा ?"

अँधेरे में पलंग के पास से उत्तर मिला—"यह कैसा प्रश्न है ? उसी ढाँचे में मेरी आत्मा रहती थी ? मेरा यौवन उसी के चारों ओर ही तो विकसित हुआ था। क्या इसे पुनः देखने की इच्छा भी न होनी चाहिए ?"

मैं बोला—"क्यों नहीं, यह इच्छा स्वाभाविक ही है। अच्छा तुम उसे ढूँढ़ो, मैं सोने की चेष्टा करूँ।" वह बोली—"तुम अकेले हो, मेरी इच्छा है कि कुछ देर बैठकर तुमसे बातें करूँ। मैं भी कभी मनुष्यों के पास बैठकर बातें करती थी। परन्तु इन पैंतीस वर्षों से मैं श्मशान की हवा में बहती रही हूँ। आज पुनः उसी प्रकार एक मनुष्य से खुलकर बातें करना चाहती हूँ।"

मैंने अनुभव किया जैसे कोई मेरे पलङ्ग के बिलकुल पास बैठ गया हो। कोई उपाय न देखकर मैं उसे उत्साहित करने के लिए स्नेह-सिक्त स्वर में बोला—"सचमुच यह बड़ा अच्छा होगा। आओ, कुछ मनोरञ्जक बातें करें।"

वह बोली—"मेरे जीवन की कथा बड़ी ही मनोरंजक है, सुनोगे।"

"क्यों न सुनूँगा, सुनाओ, जरूर सुनाओ।"

तभी गिरजे की घड़ी ने दो बजाए।

"जब मैं इस रङ्गीन दुनियाँ में थी, तो एक व्यक्ति से मृत्यु की भाँति डरती थी, वह थे मेरे पति। विवाह के दो महीने पश्चात् मेरे पति की मृत्यु हो गई तथा मेरे स्वजनों ने मेरे प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रदर्शित की। मेरे ससुर बहुत लक्षण मिलाकर मेरी सास से बोले—"शास्त्रों में जिसे विष-कन्या कहते हैं, यह वही लड़की है।"

"मुझे यह बात पूरी तरह याद है। सुन रहे हो न? आशा है कि तुम्हें मेरी यह कहानी अच्छी लग रही होगी।"

मैंने कहा—"ठीक है, कहानी का आरम्भ तो अच्छा है।"

"तो सुनो, मैं बड़ी खुशी के साथ अपने पिता के घर लौट आई। लोग मुझसे दूर रहने का प्रयत्न करते थे परन्तु मैं अच्छी तरह जानती थी कि मैं अत्यन्त सुन्दर हूँ। तुम्हारा क्या विचार है?

"खूब, सम्भवतः तुम ऐसी ही रही होगी परन्तु मैंने तो तुम्हें कभी देखा नहीं है।"

"क्या, मुझे देखा नहीं? मेरा वह ढाँचा याद नहीं, परन्तु मैं तुमसे मजाक कर रही हूँ, मैं कैसे प्रमाणित करूँ कि उन दो भद्दे गड्ढों में कभी सुन्दर चमकीली आँखें थीं, तथा अधरों पर कमनीय मुस्कान खेलती थी, उस खोखले मुखड़े में कभी सुन्दर दाँत अपनी शोभा बिखेरते थे। मैं अपनी उन सुन्दर मोहक अकथनीय शोभा को, जो मेरी शुष्क हड्डियों के ऊपर चल रही थी, याद कर रोती भी हूँ, हँसती भी हूँ। मेरे शरीर से अस्थि-विद्या सिखाई जा सकती है यह बात उस समय बड़े-बड़े डाक्टर भी विश्वास नहीं करते थे। जानते हो, एक युवक डाक्टर ने मेरी उपमा सुनहले चम्पक के फूल से दी थी। वह मुझे सौन्दर्य की प्रस्फुटित कली कहता था। क्या कोई उस ढाँचे को देखकर वैसी उपमा दे सकता है?

"जब मैं चलती थी तो ऐसा मालूम होता था जैसे मेरे शरीर में से

सुन्दर किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं। मैं घण्टों अपनी कलाई की शोभा निहारती रहती थी—पृथ्वी के सारे पुरुषों के मुँह में लगाम लगाकर मधुर भाव से उस लगाम को सँभालकर लगाने वाले दो हाथ।

"परन्तु मेरा वह निर्लज्ज, निरावरण चिरवृद्ध ढांचा मेरे विरुद्ध झूठी साक्षी दे रहा है। तब मैं निरुपाय, निरुत्तर थी। इसलिए पृथ्वी पर मैं सबसे अधिक तुमसे नाराज हूँ। मेरी इच्छा होती है अपना वह सोलह वर्ष का ज्वलन्त, यौवन की गर्मी से उत्तप्त, आरक्त रूप तुम्हारी आँखों के सम्मुख खड़ा कर दूँ। तुम्हारी आँखों की नींद को दूर भगा दूँ, तुम्हारी अस्थि-विद्या को अस्थिर करके नष्ट कर दूँ।

मैंने कहा—"यदि तुम्हारी देह होती तो मैं उसे स्पर्श करके कहता कि अब वह विद्या याद तक नहीं है। तथा तुम्हारा सुन्दर स्वरूप तो अन्धकार के पर्दे पर जाज्वल्यमान होकर फूट पड़ता है। इससे अधिक कुछ नहीं कहना होगा!"

"मेरी कोई सहेली नहीं थी। मेरे भाई ने शादी न करने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी। अन्तःपुर में मैं अकेली थी। बगीचे के पेड़ों की छाया में अकेली बैठकर मैं सोचती कि सारी दुनियाँ मुझसे प्रेम करती है, आकाश के तारे एकटक मेरी सौंदर्य-माधुरी का पान कर रहे हैं, पवन मेरे शरीर को स्पर्श कर सिहर-सिहर उठता है तथा पृथ्वी मेरे चरणों के भार से मदहोश हो उठती है। पर न जाने क्यों मेरा हृदय अकारण ही एक वेदना का अनुभव करता है।

"मेरे भाई के एक मित्र डाक्टरी पास करके आए तो वे हमारे पारिवारिक डाक्टर बन गए। मैंने पहिले भी उन्हें कई बार पर्दे के अन्दर से देखा था। अब शेखर ही मेरी दुनियाँ का स्वामी था। वही मेरे मस्तिष्क का केन्द्रबिन्दु बन गया। सुन रहे हो न? क्या सोच रहे हो?"

मैंने लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा—"काश मैं ही शेखर होता।" वह बोली—"पहले पूरी कहानी तो सुन लो। एक दिन बादल छाए हुए थे। उसी दिन मुझे बुखार आ गया। डाक्टर मुझे देखने आए। वही हमारा प्रथम मिलन था।"

"मैं खिड़की के सामने पड़ी थी। सुन्दर आकाश की लालिमा ने शरीर को अपने रङ्ग में डुबो दिया था। मैं पलकें नीची कर स्वयं अपनी सुन्दरता निरखने लगी।

डाक्टर ने नम्र व मृदु स्वर में भैया से पूछा—"क्या मैं इनकी नाड़ी देख सकता हूँ ?"

"मैंने अपना क्लान्त सुकोमल हाथ चादर के बाहर निकाल दिया। एक बार अपने हाथ को देखा, इसमें यदि नीले रङ्ग की काँच की चूड़ियाँ पहने होती तो और भी सुन्दर लगती। मैंने इससे पहिले कभी किसी डाक्टर को इस प्रकार नाड़ी परीक्षा करते न देखा था। उसकी उँगलियाँ काँप रही थीं। वह मेरे ज्वर की गर्मी भाँप रहा था तथा मैं उसके हृदय की धड़कन को सुन रही थी। क्या तुम्हें विश्वास नहीं होता ?"

मैंने कहा—"अविश्वास का कोई कारण तो दिखाई नहीं देता—मनुष्य की नाड़ी सदैव एक तरह से नहीं चलती है।"

"इस प्रकार दो-चार-बार रोग एवं आरोग्य पाकर मैंने देखा कि उस सन्ध्या को मेरी मानव-सभा के करोड़ों पुरुषों की संख्या आज इकाई में आ गई है। मेरी तसवीर-काया जल रहित हो रही थी। अब वहाँ केवल मैं छिपकर प्रतिदिन वसन्ती रङ्ग की साड़ी पहना करती थी, अच्छी तरह से वेणी गूँथकर पुष्पों की माला लगाती थी तथा एक शीशा लेकर बगीचे में जाकर बैठ जाती थी।

"तुम शायद सोच रहे होगे कि अपनी सुन्दरता देख-देख कर मनुष्य ऊब जायगा। परन्तु मैं अपने को केवल अपनी आँखों से नहीं देखती थी, मैं इस प्रकार देखती कि जैसे मैं ही डाक्टर हूँ। अपने को प्यार करती, स्नेह करती, परन्तु भीतर ही भीतर एक उदासी सान्ध्य पवन की भाँति हृदय को घेरे रहती।

"खैर, मैं अब अकेली नहीं रही। जब मैं चलती थी सोचती कि यह कितना अच्छा होता, यदि शेखर उस समय मेरी सुन्दरता को देख पाता। दुपहर को सफेद चादर बिछाकर मैं उस पर शयन करती, एक अनावृत्त हाथ

निकाल कर सोचती, इस हाथ की यह भंगिमा मानो कोई देख पाया है, मानो किसी ने दोनों हाथों से उठा लिया तथा किसी ने मेरी कलाइयों की सुन्दरता से मुग्ध होकर धीरे से उसे चूम लिया है।

"अच्छा अगर मैं अपनी कहानी को यहीं समाप्त कर दूं तो कैसा रहे ?"

मैंने कहा—"अन्त कोई बुरा न होगा। परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि कहानी अधूरी रह जायगी, पर कहानी का शेषान्श सोचते-सोचते रात मजे से कट जायगी।"

"परन्तु कहानी गम्भीर रह जायगी, इसका उपसंहार कहाँ रहेगा ?"

वह बोली—"अच्छा तो इसके बाद सुनो। कुछ दिनों के पश्चात् ही डाक्टर ने हमारे मकान के निचले भाग पर अपना दवाखाना खोल लिया। मैं बीच-बीच में हँसते-हँसते पूछ लेती, किस प्रकार सहज ही में आदमी मर सकता है। कौन-सा जहर कैसा है आदि-आदि। इन बातों ने मेरा परिचय मृत्यु से करा दिया। दुनियाँ में प्यार तथा मृत्यु, यही दो चीजें रह गई थीं।

"मेरी कहानी अब समाप्त हो रही है, अब अधिक समय नहीं है।"

मैंने धीरे से कहा—"रात भी अब अधिक नहीं है।"

"मैंने कुछ दिनों से देखा कि डाक्टर कुछ अन्यमनस्क तथा उदास से रहते हैं। एक दिन देखा, उन्होंने सजधज कर भैया से कुछ रुपया उधार लिया, रात को कहीं जाएंगे।

"मेरी जिज्ञासा अत्यन्त तीव्र हो चली थी, इसकी शान्ति के लिए मैंने भाई के पास जाकर पूछा—"भैया, आज डाक्टर साहब कहाँ जा रहे हैं ?" भैया ने संक्षेप में उत्तर दिया—"अपनी मृत्यु के पास।" मैंने कहा—"नहीं, सच बताओ न।"

उन्होंने कहा—"विवाह करने।"

मैंने कहा—"ओह, सचमुच !" और मैं जोर से हँस पड़ी।

"मुझे धीरे-धीरे पता लगा कि दुल्हन धनी है। इस विवाह से बारह हजार रुपए मिलेंगे।

"परन्तु उसने मुझसे यह सब छिपाकर मेरा अपमान क्यों किया।

क्या मैंने उससे प्रार्थना की थी या मना किया था कि वह शादी न करे ताकि मेरा दिल न टूटे। पुरुष कभी भी विश्वास के योग्य नहीं होते। मैंने पृथ्वी पर अपने सम्पूर्ण जीवन में केवल एक ही तो पुरुष देखा है तथा एक मुहूर्त में उसके बारे में सब कुछ जान लिया है।

"डाक्टर सन्ध्या को जब रोगी को देखकर लौट आए तब मैंने उनसे हँसते-हँसते पूछा—"क्या डाक्टर साहब, आज रात को आप शादी करने जा रहे हैं?"

'मेरी इस हँसी ने डाक्टर को केवल विस्मित ही नहीं किया; घबरा भी दिया।

"मैंने पूछा—'गाना-बजाना कुछ नहीं है?' डाक्टर ने यह सुनकर एक लम्बी साँस लेकर कहा—'तो क्या शादी इतने आनन्द का उत्सव है?"

"यह सुनकर मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी।" मैंने कहा—"यह नहीं होगा, क्या आपने बिना रोशनी और बाजे के विवाह होने की बात सुनी है?"

"मैंने भैया को इतना तंग किया कि वे अन्त में सम्पूर्ण उत्सव का आयोजन करने लगे।

"मैं हँस-हँस कर बातें करती रही कि दुल्हन आएगी तो क्या होगा, मैं क्या करूँगी?

"मैंने डाक्टर से पूछा—'अब भी तुम नाड़ियाँ देखा करोगे?'

"यद्यपि मनुष्य का हृदय दिखाई नहीं देता फिर भी मैं शपथ खाकर कह सकती हूँ कि यह शब्द डाक्टर के हृदय में जहरीले तीरों की भाँति चुभ गए।

"शादी रात में होनी थी, जाने से पूर्व डाक्टर नित्य की आदत के अनुसार भैया के साथ ऊपर मद्यपान कर रहा था। धीरे-धीरे चाँद आकाश में उदित हो रहा था।

"मैं हँसती हुई ऊपर गई और बोली—"डाक्टर साहब, क्या आप अपनी शादी की बात भूल गए, जाने का समय हो गया है।"

'यहाँ मैं तुमसे एक छोटी-सी बात कहना आवश्यक समझती हूँ। इसी

बीच में नीचे दवाखाने से थोड़ा-सा पाउडर उठा लाई थी। वही पाउडर मैंने डाक्टर के गिलास में सुविधा देखकर डाल दिया था।"

डाक्टर एक ही साँस में पूरा गिलास खाली कर मुझ पर हृदय-वेधी दृष्टि डालकर भारी आवाज में बोला—"अब मुझे जाना चाहिए।"

"वाजे बजने लगे, मैंने बनारसी साड़ी तथा सारे गहने पहिनकर माँग में सिन्दूर भरा, तथा बगीचे में पेड़ के नीचे मैंने अपना बिछौना तैयार किया।

"बड़ी सुहावनी रात थी, आकाश में चाँद मुस्करा रहा था। हवा धीरे-धीरे वह रही थी, और वेला की सुगन्ध वायु मंडल में व्याप्त हो रही थी।

"धीरे-धीरे बाजे का स्वर धीमा पड़ता गया, चाँद की रोशनी फीकी पड़ती रही। दुनियाँ की तस्वीरें तथा जीवन की लकीरें मस्तिष्क में मिटने लगीं। मैंने आँखें मूँद लीं और धीरे से मुस्करा दिया। मैंने कल्पना की, सब लोग वहाँ आएँगे और मुझे देखेंगे तो यह हँसी रङ्गीन नशे की भाँति मेरे अधरों पर रहेगी। मेरी इच्छा थी कि अपनी उस अमर सुहागरात में मोहक मुस्कान लेकर प्रवेश करूँ। काश, वह सुहागरात की दुलहिन के वे वस्त्र मेरी इच्छा पूरी कर सकते।

"अपने अन्दर खड़खड़ाहट की आवाज सुनकर जब मेरी नींद टूटी तो मैंने देखा कि उन तीन विद्यार्थियों को जो मेरे ढाँचे से डाक्टरी सीख रहे थे, मेरे उस हृदय के पास जहाँ मेरी हँसी फूटती थी, मेरे यौवन की कली खिलती थी, वहाँ मास्टर अपनी छड़ी से हड्डियों का नाम गिनाने में मस्त था तथा मेरी उस अन्तिम मुस्कान की जिसे मैंने कितनी सुन्दरता से व्यक्त किया था, छाया भी तुमने देखी थी।

"कहो, तुम्हें मेरी यह कहानी कैसी लगी?"

"मैंने कहा—'बहुत सुन्दर।'

इसी समय कौआ बोल उठा, "मैंने पूछा—'अभी तुम मौजूद हो क्या?"

परन्तु, कोई उत्तर नहीं मिला—तभी प्रातःकालीन आलोक ने कमरे में प्रवेश किया।

# दराह

सवेरे उठ कर दुक्खी और छदामी कोरी दोनों भाई जब हँसिया गड़सा हाथ में लेकर काम पर निकले, तब उन दोनों की बहुओं में बड़े जोर की लड़ाई शुरू हो चुकी थी। मौहल्ले वाले प्रकृति की और नाना प्रकार की खटपट तथा कलरव की भाँति इस गृह-कलह एवं उससे उत्पन्न हुए शोरगुल के आदी हो गए थे। लोग जोर की चीख-पुकार तथा औरतों की गाली-गलौज कान में पड़ते ही आपस में कहने लगते—'लो शुरू हो गई।' यानी, जैसी कि आशा थी। आज भी उस स्वाभाविक नियम में कोई अन्तर नहीं पड़ा। जिस प्रकार प्रातःकाल पूर्व में सूरज निकलने पर कोई उसका कारण नहीं पूछता, ठीक उसी प्रकार कोरियों के इस घर में जब दोनों स्त्रियों में लड़ाई एवं गाली-गलौज शुरू हो जाती तो फिर उसका कारण जानने के लिए मौहल्ले के किसी भी व्यक्ति को बिलकुल कौतूहल नहीं होता था।

हाँ, इतना अवश्य है कि यह कलह-आन्दोलन पड़ोसियों की अपेक्षा दोनों भाइयों को अधिक परेशान करता है, परन्तु वे दोनों उसे किसी खास दिक्कत में नहीं गिनते। उन दोनों भाइयों के हृदय का भाव ऐसा है, जैसे दोनों विश्व की लम्बी यात्रा इसी किस्से में बैठकर तै कर रहे हैं तथा उसके बिना कमानी के पहियों के लगातार घड़घड़-खड़खड़ शब्द को उन्होंने जीवन रथ-यात्रा के विधिवत् नियमों में ही सम्मिलित कर लिया हो। बल्कि, घर में जिस दिन कोई उपद्रव नहीं होता, चारों ओर सन्नाटा-सा रहता है, उस दिन कोई अनुमान लगाकर नहीं कह सकता कि कब मुसीबत आ खड़ी हो।

जिस दिन से हमारी कहानी की घटना आरम्भ होती है, उस दिन सायंकाल दोनों भाई मेहनत-मजदूरी करके हारे-थके जब घर लौटे तो उन्हें घर में सन्नाटा दिखाई दिया।

दोपहर को एक बार खूब जोर से बारिश हो चुकी है तथा अब भी बादल घुमड़ रहे हैं। वायु का कहीं नाम-निशान तक भी नहीं है। इसी से बाहर काफी उमस है। वर्षा के कारण घर के चारों ओर का जंगल तथा घास-पौधे आदि बहुत बढ़ गए हैं। वहाँ से तथा जल में डूबे हुए पटसन के खेत में से एक प्रकार की घनी बदबूदार भाप-सी निकल रही है तथा उसने चारों ओर जैसे एक निश्चल चहारदीवारी सी खड़ी कर दी है। मुहल्ले के बगल वाली छोटी-सी तलैया में मेंढ़क टर्र-टर्र कर रहे हैं तथा सन्ध्या का शान्ति आकाश मानो झींगुरों की झङ्कार से बिलकुल भर सा गया है।

पास ही बरसाती पद्मा नदी मेघाच्छन्न होकर बहुत ही शान्त एवं भयंकर रूप धारण करके स्वच्छन्दता से बह रही है। वह अधिकांश खेतों को नष्ट कर के बस्ती के निकट आ चुकी है जिससे आस-पास के दो-चार आम-कटहल के वृक्ष उखड़कर गिर गए हैं तथा उनकी जड़ें पानी से बाहर दीख रही हैं, मानो वे अपनी मुट्ठी की उंगलियों को आकाश में फैलाकर किसी अन्तिम सहारे के पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हों। उस दिन दुक्खी और छदामी गाँव के जमीदार के यहां बेगार करने गए। उस पार की रेती पर धान पक गए है। बरसात के पानी में डूब जाने के पूर्व ही धान काट लेने के लिए देश के गरीब किसान तथा मजदूर सब कोई अपने-अपने खेत के काम या पटसन काटने में लग गए हैं, केवल इन दोनों भाइयों को जमीदार के आदमी जबर-दस्ती बेकारी में पकड़ ले गए थे। जमीदार की कचहरी के छप्पर में जगह-जगह पानी चू रहा था। वे उसकी मरम्मत के लिए तथा कुछ टट्टियाँ बनाने के लिए दिनभर कठिन परिश्रम करते रहे हैं। उन्हें खाने तक का अवकाश न मिला कि घर आकर कुछ खा जाते। कचहरी की ओर से दोनों को थोड़े-से चने खाने को मिल गए थे। बीच-बीच में बरसात में भीग भी गए हैं। उन्हें हक की मजदूरी भी मिल जाती सो भी नहीं, बल्कि उसके बदले उनकी मजदूरी से भी अधिक गालियाँ और फटकार मिली हैं।

दोनों भाई कीचड़, दल-दल तथा पानी में होकर बड़ी मुश्किल से शाम को घर आए। घर आकर देखा तो छोटी बहू चन्दा जमीन पर आँचल बिछाए औंधी पड़ी थी। आज के बदली के दिन की तरह उसने भी दोपहर को बहुत आँसू बरसाकर एवं शाम होते-होते शान्त होकर अपने अन्दर जोरों की उमस कर रक्खी है और बड़ी बहू राधा दरवाजे पर मुँह फैलाये बैठी थी। उसका डेढ़ बालिस्त का छोटा बच्चा सो रहा था। अब दोनों भाइयों ने घर के आँगन में एक तरफ नँग-धडंग बच्चे को चित्त पड़े हुए सोते देखा।

भूखे दुक्खी ने आने के साथ ही कहा—"चल, खाने को परोस।"

बड़ी बहू एक साथ जोर से गरज उठी, जैसे बारूद के बोरे में चिनगारी पड़ गई हो। बोली—"खाने को है कहाँ, जो परोस दूँ? तू चावल दे गया था? मैं क्या अपने आप जाकर रोजगार कर लाती?"

पूरे दिन की थकावट एवं डाट फटकार सुनने के पश्चात् अन्नहीन निरान्द अँधेरे घर में जलती हुई क्षुधाग्नि पर पत्नी के शुष्क वचन मुख्यकर अन्तिम वाक्य का छिपा हुआ कुस्तुश्लेश दुक्खी को सहसा न जाने कैसे बिलकुल असहनीय हो उठा। वह क्रोधित व्याघ्र की भाँति रुद्र गम्भीर गर्जन के साथ बोला—"क्या कहा?" कहकर उसी क्षण हँसिया उठा कर स्त्री के सिर पर दे मारा। राधा अपनी देवरानी के पास जाकर गिर पड़ी और गिरने के साथ ही उसकी मृत्यु हो गई।

चन्दा के कपड़े रक्त से तर हो गए। वह "हाय अम्मा, क्या हो गया?" कह कर चिल्ला उठी। छदामी ने आकर उसका मुँह दाब लिया। दुक्खी हँसिया फेंक कर गाल पर हाथ रख के भौचक्के की भांति जमीन पर बैठ गया। लड़का जग गया तथा वह डर के कारण चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। उस समय बाहर पूर्ण शान्ति थी। अहीरों के लड़के गाय-भैंस चरा कर गाँव लौट रहे थे। जो लोग उस पार की रेती पर पके धान काटने गए थे उनमें से पाँच-पाँच, सात-सात लोग एक-एक छोटी नाव पर बैठ कर इस पार आकर दिन भर की मेहनत-मजदूरी में दो-चार पूरा धान सिर पर लादे, लगभग सभी अपने-अपने घर आ पहुँचे थे।

रामलोचन चाचा गाँव के डाकखाने में चिट्ठी डालकर घर लौट आए थे तथा निश्चिन्त होकर चुपचाप बैठे तम्बाकू पी रहे थे। अचानक उन्हें याद उठ आई कि उनके शिकमी कास्तकार दुक्खी पर लागान के रुपए बाकी हैं, वह उन्हें आज दिन देने का वायदा कर गया था। रामलोचन यह सोच कर कि वह अब घर आ गया होगा, कन्धे पर दुपट्टा डाल, छाता उठा कर चल दिए।

रामलोचन के दुक्खी-छदामी के घर में प्रवेश करते ही रोंगटे खड़े हो गए। उन्होंने देखा घर में दिया तक नहीं जल रहा है। आँगन में अँधेरा है तथा उस अँधेरे में दो-चार काली मूर्तियाँ स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। बरामदे के कोने से रह-रह कर रोने का अस्फुट शब्द सुनाई दे रहा है तथा ज्यों-ज्यों लड़का 'अम्मा-अम्मा' पुकारता हुआ रोने की कोशिश कर रहा त्यों-त्यों छदामी उसका मुँह दबाता जा रहा है। रामलोचन ने कुछ भयभीत होते हुए पूछा—"दुक्खी है क्या ?"

दुक्खी अब तक पत्थर की मूर्त्ति की भाँति चुपचाप बैठा था। उसका नाम लेकर पुकारते ही वह सिसक-सिसक कर नासमझ बच्चे की तरह रोने लगा। छदामी झटपठ बरामदे से उतर कर रामलोचन चचा के पास आँगन में आ गया। रामलोचन ने पूछा—"औरतें लड़ाई करके मुँह फुलाए पड़ी होंगी। आज दिन भर चिल्लाती ही रही हैं, इसी से अँधेरा है क्यों ?"

छदामी अभी तक नहीं सोच पाया था कि उसे क्या करना चाहिए भाँति-भाँति की असम्भव कल्पनाएँ उसके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थीं। फिलहाल उसने यही निश्चय किया था कि कुछ रात बीत जाने ने पश्चात लाश को कहीं गायब कर देगा। इसी बीच में चौधरी चचा आ पहुँचे जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। अस्तु ! उसे उस समय कोई ठीक जवाब न सूझा। वह कह बैठा—"हाँ चाचा ! आज बहुत झगड़ा हो गया है।"

चौधरी चचा बरामदे की ओर बढ़ते हुए बोले—"परन्तु दुक्खी उसके लिए क्यों रो रहा है ?"

छदामी यकायक अपनी खैर न देख कह बैठा—"झगड़ा करते-करते छोटी बहू ने बड़ी के माथे पर हँसिया मार दिया है।"

मनुष्य आई हुई विपत्ति को बड़ा समझता है, उसके सिवाय यह बात उससे मस्तिष्क में नहीं आती कि और कोई विपत्ति आ सकती है। छदामी उस समय सोच रहा था कि इस खतरनाक सत्य के पंजे से कैसे बचे। परन्तु इसबात का उसे ध्यान ही न था कि झूँठ उससे भी अधिक बढ़कर खतरा उपस्थित कर सकती है। रामलोचन के पूछते ही चट से उसके दिमाग में उत्तर सूझा और उसी समय कह डाला। रामलोचन ने चोंक कर कहा—"ऐ, क्या कहा ? मरी तो नहीं !"

छदामी बोला—"मर गई।" यह कहकर वह उनके पाँव पर गिर पड़ा।

रामलोचन चचा असमंजस में पड़कर सोचने लगे कि राम, राम, इस सन्ध्या के समय कहाँ आ फँसे ? अदालत में गवाही देते-देते मरना हो जायगा। छदामी ने किसी भी तरह उनके पाँव नहीं छोड़े। वह बोला— "चौधरी चचा ! अब में अपनी वहू के बचाव के लिए क्या करूँ ?"

रामलोचन मुकद्दमों के बारे में सलाह देने में गाँवभर के प्रधान मन्त्री थे। उन्होंने यह सोचकर कहा—"देख, तू एक काम कर। अभी थाने में जाकर कहना कि मेरे बड़े भाई दुक्खी ने शाम को घर आकर खाने को माँगा था। खाना तैयार न था सो उनने अपनी वहू के माँथे में हँसिया मार दिया है। मैं सत्य कहता हूँ कि तेरी बहू इस प्रकार कहने से बच जायगी।"

छदामी का कण्ठ सूखने लगा। वह उठकर बोला—"चौधरी चाचा ! वहू और भी मिल जायगी परन्तु भाई को फाँसी हो जाने पर फिर भाई नहीं मिलने का।" पर जब उसने अपनी स्त्री पर दोषारोपण किया था, उस समय यह बातें नहीं सोची थीं। घबराहट में एक बात मुँह से निकल गई थी, अब उसका मन व्यथित भाव से अपने लिए युक्तियाँ तथा तसल्ली एकत्रित करने लगा।

उसकी बात को चाचा ने भी युक्तिसंगत माना। उन्होंने कहा—"तो फिर जैसा हुआ है, वैसा ही कहना। सब तरफ से बचाव होना तो कठिन बात है।" रामलोचन इतना कह कर वहाँ से चल दिए तथा देखते-देखते पूरे

गाँव में यह खबर फैल गई कि कोरियों के घर की चन्दा ने लड़ते-लड़ते क्रोध में अपनी जिठानी के माथे में हँसिया दे मारा है।

गाँव में पुलिस, बाँध टूटने पर बाढ़ आ जाने के समान, आ धमकी। अपराधी तथा निरपराधी सब लोग बहुत घबरा उठे।

## २

छदामी ने अपने लिए बनाए हुए रास्ते पर ही चलना उचित समझा। जो बात रामलोचन के सामने अपने मुँह से कह डाली है, उसको गांव के सब लोग जान गए हैं। अब यदि दूसरी कोई बात कही जाय, न जाने उसका क्या फल निकले ? क्या से क्या हो जाय ? उसकी अक्ल चकरा गई। उसने समझ लिया कि किसी प्रकार अपने वचनों की रक्षा करते हुए, उसमें और भी दो-चार बातें जोड़-जाड़ कर बहू को भले ही बचाया जा सकता है। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं। छदामी ने अपनी बहू चन्दा से अनुरोध किया कि वह अपराध अपने ऊपर ले ले। यह सुनते ही उस पर मानो बिजली-सी पड़ गई।

छदामी ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा—"मैं जो कह रहा हूँ, उसमें तुझे किसी बात का डर नहीं। हम लोग तुझे बचा लेंगे।" चन्दा ने यह सुनकर ढाढ़स किया या नहीं, परन्तु उसका कंठ सूख गया, मुँह फक पड़ गया

चन्दा की उम्र १७-१८ से अधिक न थी। चेहरा भरा हुआ, शरीर मँझला, कसा हुआ, स्वस्थ और सबल, अङ्ग-प्रत्यंगों के गठन में ऐसा एक सौष्ठव भरा हुआ है कि चलने-फिरने में, हिलने-डुलने में देह कहीं से भी बेडौल प्रतीत नहीं होती। वह नई बनी हुई नौका के समान छोटी एवं सबल है। वह बहुत ही आसानी से सरकती है तथा उसकी कहीं भी ग्रन्थि शिथिल नहीं हुई है। उसके अन्दर संसार के समस्त विषयों में एक प्रकार का कौतूहल है। उसे मोहल्ले में दूसरों के घर जाकर गपशप करना बहुत पसन्द है तथा बगल में पानी की गागर लिए, पनघट आते समय, वह दो उँगलियों से घूँघट में

जरा सा छेद करके अपनी चमकीली-चंचल काली आँखों से, मार्ग में जो कुछ देखने योग्य वस्तु होती हैं, उसे देख भी लिया करती है।

वड़ी वहू ठीक इसके विपरीत थी। वह वहुत ही आलसिन, फूहड़ तथा वेशऊर थी। उससे सिर का कपड़ा, गोद का लड़का, घर का काम कुछ भी नहीं सम्भल सकता था। उसके हाथ में न तो कोई खास काम-काज होता और न फुरसत। छोटी बहू उससे अधिक कुछ कहती-सुनती न थी। हाँ, मीठे स्वर में दो एक पैने दाँत वना देती तथा हाय-हाय, हो-हो करके क्रोध में बकती-झकती रहती और इस प्रकार मौहल्ले-भर की नाक में दम करती रहती।

परन्तु इन दो दम्पत्तियों में भी आश्चर्यजनक स्वाभाविक कला थी। दुक्खी कुछ लंवा-चौड़ा हृष्ट-पुष्ट है—चौड़ी हड़िया-सी भद्दी नाक, आँखें ऐसी जैसे वे इस संसार को भली प्रकार समझती ही नहीं और न उससे किसी प्रकार का प्रश्न ही करना चाहती है। ऐसा भोला-भाला किन्तु खतरनाक, ऐसा वलशाली किन्तु निरीह मनुष्य कोई ही मिलेगा।

छदामी किसी चमकीले काले पत्थर को वड़े परिश्रम से छीलकर बनाई गई प्रतिमा के समान लगता है। कहीं जरा भी वाहुल्य नहीं, कहीं जरा दचका भी नहीं पड़ा। उसके प्रत्येक अंग को वल एवं निपुणता ने मिलकर भरापूरा वना दिया है। वह चाहे तो ऊँचे पहाड़ पर से नीचे नदी में कूद पड़े, चाहे लग्गी चलावे, चाहे वाँस की झाड़ियों में चढ़कर उसकी टहनियाँ छाँट-छाँट कर काट डाले। अपने प्रत्येक काम में वह पूरी सावधानी रखता है, जैसे प्रत्येक काम उसके लिए वहुत सरल हों। वह अपने वड़े-वड़े काले वालों में तेल डालकर वड़े प्रयत्न से उन्हें काढ़ कर कन्धे तक लटकाए रखता है, शरीर की सजावट की ओर उसका विशेष ध्यान है।

यद्यपि अन्य गाँवों के लोगों के सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि उदासीन न थी तथा उनकी दृष्टि में स्वयं को सुन्दर जँचाने की इच्छा भी उसमें अधिक थी, फिर भी अपनी युवती पत्नी को वह कुछ अधिक प्यार करता था। दोनों में कलह भी होती तथा मेल भी, परन्तु कोई किसी को पराजित नहीं कर

सकता था। एक कारण और भी था जिससे दोनों का बन्धन काफी दृढ़ था। छदामी यह समझता था कि चन्दा जैसी चंचल प्रकृति की फूहड़ स्त्री है, उस पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए, तथा चन्दा समझती थी कि उसके स्वामी की दृष्टि चारों ओर दौड़ती रहती है, उसे यदि कुछ कसकर न बाँधा गया तो किसी दिन हाथ से निकल जाने का भय है।

इस दुर्घटना के कई दिन पूर्व से पति-पत्नी में बड़ी भारी तना-तनी चल रही थी। बात यह थी कि चन्दा ने देखा कि उसका पति काम के बहाने कभी-कभी दूर चला जाता है। यहाँ तक कि दो-एक दिन बाहर व्यतीत कर घर लौटता है और इतने पर भी कुछ पैदा करके नहीं लाता। अतः वह भी पति के लक्षण अच्छे न देखकर कुछ ज्यादती करने लगी थी। उसने भी बार-बार पनघट जाना शुरू कर दिया तथा मौहल्ले भर में घूम-फिरकर, घर आकर काशीप्रसाद के मँझले लड़के की बहुत अधिक व्याख्या करने लगी।

छदामी के दिन और रातों में इस कार्य ने मानो किसी ने विष घोल दिया। उसे काम-धन्धे में कहीं भी थोड़ी देर के लिए चैन न मिलता। उसने एक दिन इसके लिए भाभी को बड़ी डाट फटकार बताई। उत्तर में भाभी ने हाथ हिला-हिलाकर, झमक-झमककर उसके मृत-पिता को संबोधित करते हुए कहा—"वह औरत आँधी के आगे दौड़ती है, उसे मैं कैसे संभाललूँ? मैं तो जानती हूँ कि वह किसी-न-किसी दिन खानदान की नाक कटा बैठेगी।"

उस समय चन्दा बगल की कोठरी में बैठी थी। उसने बाहर निकल कर धीरे से कहा—"जीजी! तुम इतना क्यों डरती हो?" बस, फिर क्या था, दोनों में खूब ठन गई।

छदामी ने आँखें दिखाते हुए कहा—"देख, अब मैंने कभी सुना कि तू अकेली पानी भरने गई है, तो तेरी हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।"

चन्दा बोली—"तब तो मेरा कलेजा ही ठण्डा हो जायगा।" यह कहती हुई वह बाहर जाने को तैयार हो गई।

छदामी ने उसी समय उसकी चोटी पकड़ के घसीटकर, कोठरी के अन्दर ढकेल दिया। फिर बाहर से दरवाजा बन्द कर दिया।

जब शाम को छदामी घर लौटा तो देखा कि कोठरी खुली पड़ी है, उसमें कोई भी नहीं है, और चन्दा तीन गाँव पार करके सीधी अपने ननिहाल पहुँच गई है।

छदामी उसे बड़ी मुश्किल से मनामनू कर वहाँ से घर लाया। इस प्रकार अब की वार उसने पराजय स्वीकार कर ली। उसने देख लिया जैसे अंजलीभर पारे को मुट्ठी के अन्दर जोर से दवाकर रखना कठिन है, वैसे ही इस स्त्री को भी मजबूती से पकड़ रखना असंभव है। पारे के समान वह भी दसों उँगलियों की सँधों में से इधर-उधर निकल पड़ती है।

फिर उसने किसी प्रकार की जवरदस्ती नहीं की, परन्तु घर में बड़ी अशान्ति रहने लगी। उसका हृदय इस चंचल युवती पत्नी के प्रति सदैव शंकिस प्रेम, तथा उग्र वेदना से पूर्ण रहने लगा। यहाँ तक कि कभी-कभी वह सोचता कि यदि यह मर जाय तो निश्चित होकर शान्ति से रहूँ। जितनी ईर्षा आदमी को आदमी से होती है, उतनी शायद यमराज से भी नहीं होती। इसी बीच घर में यह दुर्घटना घटित हो गई।

जव उसके पति ने चन्दा से हत्या मंजूर करने के लिए कहा तो वह भौंचक्की होकर देखती रह गई। उसके दोनों काले-काले नेत्र काली अग्नि के समान चुपचाप अपने पति को दग्ध करने लगे। उसका संपूर्ण शरीर एवं मन क्रमशः मानो संकुचित होकर राक्षस रूपी पति के पंजे से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने लगा। उसकी समस्त अन्तरात्मा विमुक्त होकर पति के विरुद्ध विद्रोह ठान वैठी।

छदामी ने बहुत साँत्वना दी कि तुझे डरने की कोई वात नहीं। इसके पश्चात् उसने यह भी बताया कि उसे थाने में तथा अदालत में मजिस्ट्रेट के संमुख क्या-क्या कहना होगा। उसने बार-बार सिखा-पढ़ाकर सब ठीक कर दिया, परन्तु चन्दा प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति चुपचाप बैठी रही। उसने छदामी की लम्बी-लम्बी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

दुक्खी समस्त कामों में छदामी पर ही निर्भर रहता है। छदामी ने जब

चन्दा पर सारा अपराध मढ़ने की बात कही, तब दुक्खी ने कहा—"फिर बहू को क्या होगा ?"

छदामी ने कहा—"उसे मैं बचा लूँगा।" दुक्खी भाई की बात सुन कर निश्चित हो गया।

३

छदामी ने अपनी बहू को सिखा दिया था कि तू कहना—"जिठानी मुझे हँसिया लेकर मारने आई थी, सो मैं भी हँसिया उठाकर उसे रोकने लगी। तब अचानक ही न जाने कैसे लग गई। यह सब बातें रामलोचन ने ही बताई थीं। इसके अनकूल जिन-जिन बातों व प्रमाणों की आवश्यकता थी, वे सब बातें भी उन्होंने छदामी को विस्तार के समझा दी थीं।

पुलिस ने आकर जोरों से जाँच-पड़ताल शुरू कर दी। लगभग सभी गाँव वालों के मन में यह बात पूरी तरह बैठ गई थी कि जिठानी की हत्या चन्दा ने ही की है। सभी गाँव वालों के बयानों से ऐसा ही साबित हुआ। पुलिस के पूछे जाने पर चन्दा ने भी कहा—"हाँ, हत्या मैंने ही की है।"

"क्यों हत्या की ?"

"मुझे वह अच्छी नहीं लगती थी।"

"कोई झगड़ा हुआ था ?"

"नहीं।"

"पहिले वह तुम्हें मारने आई थी ?"

"नहीं।"

"तुम पर किसी प्रकार का जुल्म किया था ?"

"नहीं।"

सब लोग इस प्रकार का उत्तर सुनकर आश्चर्यचकित रह गए।

छदामी एकदम घबरा गया और बोला—"यह ठीक नहीं कह रही है, पहले बड़ी बहू······"

थानेदार ने उसे डाटकर चुप कर दिया। नियमानुसार बार-बार जिरह करने पर भी अन्त में यही एक ही प्रकार का उत्तर मिला। चन्दा ने बड़ी बहू की ओर से किसी प्रकार का आक्रमण होना किसी तरह भी मंजूर नहीं किया।

इस प्रकार की जिद्दी औरत शायद ही कहीं देखने में आती हो। एक रुख से जी-जान से प्रयत्न करके फाँसी के तख्ते की ओर झुकी जा रही है, किसी प्रकार भी रोके नहीं रुकती। यह रूठना भी कितना भयानक है। शायद चन्दा मन-ही-मन कह रही थी कि मैं अपने इस नवयौवन को लेकर तुम्हें छोड़ फांसी के तख्ते पर चढ़ जाऊँगी। फाँसी की रस्सी को गले लगाऊँगी। मेरे इस जन्म का उसी के साथ अन्तिम बन्धन है।

चन्दा वन्दिनी होकर, एक भोलीभाली छोटी सी चंचल कौतूहलप्रिय ग्राम-वधू गाँव के चिर-परिचित मार्ग से जगन्नाथजी के मन्दिर के पास से, बीच बाजार से घाट के तट से मजूमदारों के घर के सामने से, डाकखाने और स्कूल की बगल से सभी परिचित आँखों के सामने से, कलंकी छाप लेकर, घर छोड़कर चली गई। उसके पीछे-पीछे लड़कों का एक झुण्ड जा रहा था तथा गाँव की स्त्रियाँ, उसकी सखी-सहेलियाँ कोई घूँघट की सँद में से कोई दरवाजे की बगल से तथा कोई पेड़ की ओट में खड़ी होकर सिपाहियों से घिरी चन्दा को जाती देख लज्जा से घृणा से, डर से रोमाँचित हो उठीं।

चन्दा ने डिप्टी मजिस्ट्रेट के सम्मुख भी अपना अपराध कबूल कर लिया तथा—बड़ी बहू ने दुर्घटना से पहिले उस पर किसी प्रकार की ज्यादती या जुल्म किया था'—यह बात भी उसके मुँह से किसी भाँति नहीं निकली।

परन्तु,उस दिन गवाही के कटघरे में पहुँचते ही छदामी रो दिया तथा हाथ जोड़ कर बोला—"दुहाई है हजूर! मेरी बहू का कोई कसूर नहीं है।" हाकिम ने धमका कर उसके उच्छ्वास को रोक कर, उससे प्रश्न करना आरम्भ किया। तब उसने एक-एक करके सब सच्ची घटना कह सुनाई।

परन्तु, हाकिम ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। कारण मुख्य विश्वास-पात्र एवं शरीफ गवाह रामलोचन ने कहा—"हत्या होने के कुछ देर

बाद ही मैं घटनास्थल पर पहुँचा था। गवाह छदामी ने मेरे सम्मुख सव स्वीकार करके मेरे पैरों पर गिरते हुए कहा था कि वहू को किस प्रकार वचाऊँ, कोई उपाय वताइए ? मैंने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा। गवाह ने मुझ से पूछा—"यदि मैं कहूँ कि मेरे वड़े भाई ने खाने को माँगा था, सो उसने दिया नहीं इस पर क्रोध में ग्राकर भाई ने स्त्री को मार डाला, तो यह वच जाएगी ?" मैंने कहा—"खवरदार, हरामजादे ! ग्रदालत में एक शव्द भी झूँठ न वोलना, इससे वढ़कर महापाप ग्रौर नहीं है।" इत्यादि।

चन्दा को वचाने के लिए रोमलोचन ने पहिले वहुत-सी वातें गढ़ डाली थीं, परन्तु जव देखा कि चन्दा स्वयं ही ग्रड़कर फँस रही है, तव सोचा कि ग्ररे वाप रे, ग्रन्त में कहीं मुझे ही झूँठी गवाही के ग्रपराध में न फँसना पड़े। इससे जितना जानता हूँ उतना ही कहना ग्रच्छा है। यही सोचकर उन्होंने उतना ही कहा, लेकिन उससे भी कुछ ग्रधिक कहने में कसर न रक्खी।

डिप्टी मिजिस्ट्रेट ने यह मामला सैशन सुपुर्द कर दिया। इस वीच में खेती-वाड़ी, हाट-वाजार, रोना-हँसना ग्रादि संसार के समस्त कार्य चलने लगे। पहिले की भाँति पुनः हरे धान के खेतों में सावन की वर्षा-धारा प्रवाहित होने लगी।

पुलिस ग्रपराधी एवं गवाहों को लेकर सैशन जज की ग्रदालत में उपस्थित हुई। इजलास में वहुत से लोग ग्रपने-ग्रपने मुकद्दमे की पेशी की प्रतीक्षा में वैठे थे। रसोईघर के पीछे की छोटी सी गन्दी तलैय्या को लेकर एक मामला चल रहा है, जिसकी पैरवी में कलकत्ता से वकील वुलाए गए हैं, तथा फरियादी की ग्रोर से उन्तालीस गवाहियाँ उपस्थि हैं। सव ग्रपने-ग्रपने हकहिसाव का कौड़ी-कौड़ा रत्ती-रत्ती वाल की खाल निकालने वाला फैसला कराने के लिए व्याकुल होकर दौड़े ग्राए हैं। उनकी धारणा है कि फिलहाल संसार में उनके लिए इससे वढ़कर ग्रौर कोई ग्रावश्यक काम नहीं है। छदामी खिड़की में से नित्य की इस ग्रत्यन्त ग्राकुल-व्याकुल दुनियाँ की ग्रोर एकटक देख रहा है। उसे सव कुछ सपना-सा प्रतीत होता है। ग्रदालत के ग्रहाते के भीतर के वटवृक्ष पर से एक कोयल वोल रही है। उसके यहाँ इसी प्रकार का कोई कानून तथा ग्रदालत नहीं है।

जज के सम्मुख चन्दा ने झलझला कर कहा—"अरे साहब ! एक ही बात को बार-बार कितनी बार बताऊँ ?"

जज ने उसे समझाते हुए कहा—"तुम जिस अपराध को मंजूर कर रही हो, जानती हो उसकी सजा क्या है ?" चन्दा ने कहा—नहीं।"

जज ने कहा—"इसकी सजा है फाँसी, मौत !"

चन्दा बोली—"साहब ! मुझे वही सजा दो, मैं तुम्हारे पैरो पड़ती हूँ, मुझ से अब नहीं सहा जाता।"

छदामी को जब अदालत में पेश किया तो चन्दा ने उसकी ओर से मुँह फेर लिया। जज ने पूछा—"यह तुम्हारा कौन लगता है ? गवाह की ओर देख कर बताओ।"

दोनों हाथों से अपना मुँह ढककर चन्दाने कहा—"यह मेरा पति लगता है।"

प्रश्न—"यह तुम्हें चाहता है ?"

उत्तर—"ऊफ ! बहुत अधिक चाहता है।"

प्रश्न—"तुम उसे नहीं चाहतीं।"

उत्तर—"बहुत अधिक चाहती हूं।"

प्रश्न—"तो तुमने खून किया ?"

छदामी ने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"सरकार ! हत्या मैंने की है।"

प्रश्न—"क्यों ?"

उत्तर—"मैंने उससे खाने को माँगा था, सो उसने नहीं दिया।"

जब दुक्खी गवाही देने आया तो मूर्छित हो गया। होश में आने पर उसने उत्तर दिया—"साहब, खून मैंने ही किया है।"

"क्यों ?"

"मैंने खाने को माँगा था, सो उसने दिया नहीं।"

जज साहब ने बहुत जिरह तथा अनेक गवाहों के बयान सुनने के पश्चात यह स्पष्ट समझ लिया कि घर की बहू को बचाने के लिए ही दोनों

भाई अपराध स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु चन्दा ने थाने से लेकर अदालत तक एक ही बात कही थी। उसकी बातों में कहीं जरा भी अन्तर नहीं पड़ा था। दो वकीलों ने उसे फाँसी से बचाने के लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु अन्त में उन्हें भी हार माननी पड़ी।

जिस दिन छोटी-सी उमर में एक काली-काली छोटी-मोटी लड़की अपना गोल-मटोल चेहरा लिए हुए गुड्डे-गुड़िया छोड़कर अपने मा-बाप का घर त्याग कर सुसराल आई थी, उस दिन रात की शुभलग्न के समय, आज के इस दिन की कल्पना कौन कर सकता था। उसका बाप मरते समय यह कहकर निश्चित हुआ था कि खैर, कुछ भी हो मेरी लड़की तो ठीक ठिकाने से लग गई।

फाँसी के पहिले जेल में सिविल सर्जन ने चन्दा से पूछा—"किसी को देखने की इच्छा है ?" चन्दा ने कहा—"एकबार अपनी माँ को देखना चाहती हूँ।" डाक्टर बोला—"तुम्हारा पति तुम्हें देखना चाहता है। उसे बुला लिया जाय ?"

चन्दा ने उत्तर दिया—"हूँ-हूँ, उसे मौत भी नहीं आई ?"

———

# व्यवधान

वहुत हिसाब के पश्चात सम्बन्ध मिलाकर देखने से वनमाली तथा हिमांशुमाली ममेरे फुफेरे भाई हैं। दोनों परिवार वहुत दिनों से एक दूसरे के पड़ौसी हैं। वीच में सिर्फ एक वगीचे का व्यवधान है। फिर भी, इनका सम्वन्ध ब्रिलकुल निकट न होने पर भी इनमें घनिष्ठता की कमी नहीं है।

वनमाली हिमांशुमाली से उम्र में भी बहुत वड़े हैं। हिमांशुमाली के जव दूध के दाँत नहीं निकले थे एवं न वह बोलना ही जानता था, तभी से वनमाली उसे इस वगीचे में घुमाने लिवा लाता था तथा उसके साथ खेलता था। वह रोता हो तो उसे चुप करता तथा हिमाँशु के मनोरंजन के लिए सव प्रकार की व्यवस्था के अनुसार चंचलता विकसित करने में वनमाली ने कुछ उठा न रक्खा था।

वनमाली अधिक पढ़ा-लिखा न था। उसे वगीचे का शौक था और दूर सम्पर्क का भाई था। अस्तु, इसे एक दुष्प्राप्त अमूल्य लता की भाँति समझकर हृदय के सारे स्नेह रस से सींच रहा था। जव उसने देखा कि वह लता की भाँति ही फैलकर सारे हृदय को घेरकर ऊपर चढ़ रहा है, तो उसने अपने को धन्य समझा।

किसी-किसी का स्वभाव ऐसा होता है कि वह एक छोटी-सी कल्पना या एक शिशु अथवा किसी कृतघ्न मित्र के पास आसानी से अपने को विसर्जन कर देता है। हालांकि ऐसा स्वभाव सचराचर में नहीं देखा जाता है। यह इस अपार पृथ्वी पर एकमात्र छोटे-से स्नेह के कारोबार में जीवन का समय

मूलधन लगा निश्चिन्त होकर समस्त जीवन साधारण रूप से बिता देता है अथवा अचानक ही एक दिन अपना घरबार बेचकर, फकीर होकर निकल पड़ता है।

जब हिमांशु कुछ बड़ा हुआ तो उम्र-सम्बन्ध में गहरा तारतम्य न रहने पर भी दोनों मित्रता के बन्धन में बँध गए। ऐसा प्रतीत होता, जैसे दोनों के बीच छोट-बड़ा कोई नहीं हो।

ऐसा होने का कारण भी था। हिमांशु अधिकतर पढ़ाई-लिखाई से विशेष दिलचस्पी रखता। उसके हाथ में जो पुस्तक आती, उसे वह मन लगा कर पढ़ता। इससे वह कुछ व्यर्थ की पुस्तकें अवश्य पढ़ गया, परन्तु उसके ज्ञान प्राप्त करने से मन की पुष्टि भी होती थी। बनमाली उसकी प्रत्येक बात को श्रद्धा से सुनता, उससे छोटी-बड़ी सभी बातों के लिए परामर्श करता, उसकी किसी भी विषय में, बालक समझकर, अवज्ञा नहीं करता था। हृदय के सर्व प्रथम स्नेह-रस से जिसे इतना बड़ा किया, यदि वह बुद्धि, ज्ञान तथा उच्च स्वभाव के कारण विशेष श्रद्धा का अधिकारी है तो उससे परम प्रिय वस्तु पृथ्वी पर अन्य नहीं हो सकती।

हिमांशु को भी बगीचे का शौक था, परन्तु इस शौक में दोनों मित्रों में कोई भेद न था। बनमाली का यह हार्दिक शौक था तथा हिमांशु का बुद्धि का। पृथ्वी के ये कोमल वृक्ष लता आदि, चेतन-रहित जीवन-राशि, यत्न की कोई इच्छा ही नहीं रखते, परन्तु यत्न मिलते ही घर के बच्चों की भाँति बढ़ते हैं। जो मानव के लिए शिशु हैं, बनमाली में उन्हें पालने की एक स्वाभाविक आदत थी। परन्तु इनके प्रति हिमांशु की कौतूहली दृष्टि थी। अँकुर निकलते हैं, किसलिए दिखाई देते हैं और पुष्प खिलते हैं, उसे इन सब में एक विशेष प्रकार का कौतूहल दिखाई पड़ता।

हिमांशु गाछ के बीज बोना, क़लम करना तथा खाद देने के विषय में नए-नए सुझाव देता, बनमाली जिन्हें अत्यन्त प्रसन्नता के साथ ग्रहण करता। इस बगीचे को लेकर इसकी शक्ल एवं प्रकृति जिस प्रकार भी अदली-बदली जा सकती थी, दोनों मिलकर करते थे।

घर के दरवाजे के सामने वगीचे में ही एक पक्का चबूतरा था। वनमाली शाम के चार वजते ही पतला कुर्त्ता पहिन, दुपट्टा डाल, हुक्का लिए अकेला वहाँ जाकर बैठ जाता, समय व्यतीत करने के लिए। वनमाली अखबार या अन्य साधनों का उपयोग नहीं करता था। वह हुक्का पीते-पीते कभी बाँई ओर, कभी दाँई ओर उदास दृष्टि से देखता रहता। इस प्रकार हुक्के के धुँए की तरह समय भी छोटे से भाव से उड़ जाता। उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

जब हिमांशु स्कूल से लौटकर जलपान करके दिखाई देता तो वनमाली शीघ्रता से हुक्के की नली रखते हुए खड़ा हो जाता। यह देखकर यह समझते देर न लगती कि वह इतनी देर से किसी की प्रतीक्षा कर रहा था।

उउके पश्चात् दोनों मित्र वगीचे में वातें करते हुए घूमते। अन्धकार हो जाने पर दोनों वेंच पर आकर वैठ जाते। दक्षिण की हवा पत्तों को आनन्दित करती हुई वह जाती, यदि कभी हवा न वहती तो वृक्ष चित्र की भाँति शाँत खड़े रहते। ऊपर आकाश में असंख्य तारे चमकते रहते थे।

हिमांशु जो कहता, वनमाली उसे चुपचाप सुनता। जो कुछ उसकी समझ में नहीं आता वह भी अच्छा लगता, जो वातें दूसरों को वेकार की लगतीं, वही वातें वनमाली को अच्छी लगतीं तथा ऐसा वयस्क श्रद्धायुक्त श्रोता पाकर हिमांशु की शक्ति, स्मृति-शक्ति, कल्पना शक्ति परिपुष्टि होने लगतीं। वह कुछ तो पढ़कर वोलता और कुछ हृदय से सोचकर वोलता, कुछ वोलते-वोलते कह जाता तथा अधिकतर कल्पना के साहचर्य ही ज्ञान के अभाव को ढक लेता। वह कुछ ठीक कहता तथा गलत भी, परन्तु वनमाली उसे गम्भीरता से सुनता तथा बीच-बीचमें प्रश्न भी करता। हिमांशु उसके प्रश्नों के उत्तर में उसे जो कुछ वता देता, वही समझ लेता तथा दूसरे दिन चबूतरे पर वैठकर हुक्का पीते समय उन पर विचार करता।

इसी बीच में एक उपद्रव खड़ा हो गया। वनमाली के वगीचे तथा हिमांशु के घर के वीच एक पानी जाने की नाली थी। उस नाली के एक स्थान पर बिजौरे का एक वृक्ष लगा हुआ था। जब उस वृक्ष में फल लगे तो

वनमाली के नौकर ने उन्हें तोड़ने की चेष्टा की तथा हिमांशु के नौकर ने उसे ऐसा करने से रोका। इस प्रसंग में दोनों ओर से गाली-गलौज भी हुई। इसमें यदि कोई वस्तु होती तो उसी से नाली भर जाती।

वनमाली के पिता हरचन्द तथा हिमांशु के पिता गोकुलचन्द इस प्रसंग में आपस में झगड़ पड़े। निर्णय के लिए दोनों पक्षवाले अदालत पहुँचे। दोनों ओर के वकील-बैरिस्टर आ गए। काफी वाद-विवाद हुआ। इस विवाद में जितना रुपया खर्च हुआ, भाद्र मास में उतना पानी उस नाले से नहीं गया होगा। अन्त में सफलता हरचन्द को मिली। अदालत में प्रमाणित हो गया कि वह नाला व गाछ हरचन्द का ही है। अपील हुई, परन्तु कोई सफलता नहीं हुई।

जब तक मुकद्दमा चलता रहा दोनों भाइयों के भाईचारे में कोई अन्तर नहीं आया। यहाँ तक कि किसी प्रकार के विवाद की छाया पड़े, इस डर से वनमाली हिमांशु को और अधिक कातरता के हृदय से आबद्ध करना चाहता था।

अदालत में जिस दिन हरचन्द की जीत हुई, उस दिन उसके घर में विशेषकर घर की औरतों में हर्ष की लहर दौड़ गई। केवल वनमाली की आँखें ही नींद-रहित थीं। दूसरे दिन वह इस प्रकार बैठा था कि मानो दुनियाँ में किसी का कुछ नहीं बिगड़ा है, किन्तु उसी की बहुत बड़ी पराजय हुई है। उसी दिन शाम को हिमांशु नहीं आया तो वनमाली ने एक लम्बी साँस खींचते हुए हिमांशु के घर की ओर देखा। खुली हुई खिड़की में से हिमांशु के स्कूल के कपड़े टँगे हुए दिखाई पड़ रहे थे। साथ ही बहुत से चिर-परिचित लक्षणों को मिलाकर देखा कि हिमांशु घर पर ही है। वह हुक्का पीना बन्द करके इधर-उधर टहलने लगा। उसने अनेक बार उस खुली खिड़की की ओर देखा परन्तु हिमांशु नहीं दिखाई दिया।

सन्ध्या के समय दीपक जलते ही वनमाली हिमांशु के घर गया। द्वार के पास ही गोकुलचन्द बैठे हुए, अपने अशान्त हृदय को स्थिर करने का प्रयत्न कर रहे थे। बोले—"कौन है ?"

वनमाली चौंक उठा, मानो वह चोरी करते हुए पकड़ा गया हो। काँपते हुए स्वर में बोला—"मैं हूँ, मामा ?"

मामा बोले—"किसे ढूँढ़ते आए हो ? यहाँ कोई नहीं है।" इसके पश्चात् वनमाली पुनः बगीचे में जाकर बैठ गया। रात जैसे-जैसे गहरी होती रही, हिमांशु के घर की खिड़कियाँ और दरवाजे एक-एक कर बन्द हो गए। दरवाजे के छेदों से जो तीक्ष्ण प्रकाश आ रहा था, वह भी धीरे-धीरे क्षीण होता हुआ समाप्त हो गया। वनमाली ने रात्रि के अन्धकार में सोचा कि हिमांशु के दरवाजे उसी के लिए बन्द हो गए हैं। वह वहीं बैठ रहा। दूसरे दिन वनमाली ने बगीचे में आकर सोचा कि आज हिमांशु आएगा। प्रतिदिन जो आता था, वह एक दिन नहीं आएगा—वह यह तो सोच ही नहीं सकता था। उसने यह भी नहीं सोचा था कि बन्धन भी टूट सकता है। वह ऐसे निश्चिन्त मन से बैठा था कि जीवन के समस्त सुख-दुख न जाने कब उस बन्धन में जकड़ गए। पता ही नहीं चला। आज अचानक मालूम हुआ कि वह बन्धन अब टूट चुका है। परन्तु इस पर उसका हृदय विश्वास करना नहीं चाहता था कि एक क्षण उसका यह बन्धन टूट गया है।

वनमाली प्रतिदिन के नियमानुसार बगीचे में बठता, शायद देखने से हिमांशु आजाय। परन्तु ऐसा ही दुर्भाग्य कि जो प्रतिदिन नियमित रूप से आता था, आज दैव से भी नहीं आया। रविवार के दिन वनमाली ने सोचा–पहिले की भाँति हिमांशु आज भी प्रातः उन्हीं के घर आकर भोजन करेगा, परन्तु भोजन के समय भी हिमांशु नहीं आया। तब उसने सोचा—वह भोजन करके ही आएगा ? परन्तु वह भोजन करके भी नहीं आया। वनमाली ने पुनः सोचा—आज वह भोजन करके सो रहा होगा सो उठते ही आएगा। हिमांशु सोकर कब उठा, यह तो पता नहीं; परन्तु वह फिर नहीं आया।

पुनः शाम हुई और रात भी हिमांशु के घर का प्रकाश बुझ गया। दरवाजे बन्द हो गए।

इस प्रकार सोमवार से लेकर रविवार तक जब सातों दिन दुर्भाग्य ने वनमाली के हाथ से छीन लिए, उसकी आशा को आश्रय देने के लिए एक भी दिन नहीं छोड़ा तो हिमांशु की अट्टालिका की ओर उसके कातरतापूर्ण नेत्रों ने बड़े अभिमान की नालिश भेजी तथा जीवन की समस्त वेदनाओं को एकत्रित करके वह केवल एक ही वाक्य में संयत करके बोला—"हे दयामय !"

# जासूस

मैं पुलिस का जासूस था। जीवन में मेरे केवल दो ही लक्ष्य थे—मेरी स्त्री तथा मेरा व्यवसाय। पहले मैं सम्मिलित परिवार में था, परन्तु वहाँ मेरी स्त्री के प्रति अच्छा व्यवहार होते न देख मैं बड़े भाई से झगड़ा कर अलग हो गया। सहसा बड़े भाई का साथ छोड़ना मेरे लिए दुस्साहस का काम था, क्योंकि वे ही उपार्जन करके हम सब का पालन कर रहे थे।

परन्तु मेरा स्वयं पर विश्वास कम नहीं था। मैं निश्चय कर चुका था, जिस प्रकार मैंने सुन्दर पत्नी को प्राप्त किया है, उसी प्रकार अवश्य लक्ष्मी को भी प्राप्त करूँगा। महिमचन्द्र इस दुनियाँ में किसी प्रकार पीछे हटने वाला नहीं है। पुलिस-विभाग के साधारण पद से जासूस के पद तक पहुँचने में देर न लगी।

जिस प्रकार उज्ज्वल शिखा से काजल पड़ता है, उसी प्रकार मेरी पत्नी के प्रेम में इर्ष्या तथा सन्देह की कालिमा निकलती थी। उससे मेरे काम में कुछ रुकावटें दिखाई देतीं। परन्तु पुलिस के कामों में हर स्थान या हर समय विचार करने से काम नहीं चलता, स्थान की अपेक्षा और समय की अपेक्षा अकाल की ही चर्चा अधिक करनी पड़ती है। इसमें मेरी स्त्री का स्वभाव सिद्ध सन्देह और भी दुर्विवाद हो उठता। मुझे भयभीत करने के लिए कहती—"तुम इस प्रकार जब-तब जहाँ-तहाँ रहते हो, कभी मुझसे मिल लेते हो, मेरे लिए तुम्हारे मन में सन्देह नहीं होता?" मैं उसे उत्तर दे देता—"सन्देह करना मेरा व्यवसाय है, अतः मैं उसे घर में लाना नहीं चाहता हूँ।"

स्त्री कहती—"सन्देह करना मेरा व्यवसाय नहीं है, यह मेरा स्वभाव है। यदि तुम मुझे थोड़ा भी सन्देह का कारण दोगे, तो मैं सब कुछ कह सकती हूँ।

मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा थी कि जासूसी लाइन में मैं सबसे बड़ा बनूँगा, तथा अपना नाम कर लूँगा। मैंने इससे सम्बन्धित जितने विवरण तथा कहानियाँ हैं, उनमें से किसी को पढ़ने से नहीं छोड़ा। परन्तु उन्हें पढ़कर यह असन्तोष एवं अधीरता और बढ़ जाती। क्योंकि हमारे देश के अपराधी निडर और निर्दोष होते हैं। उनके अपराध सरल तथा निर्जीव होते हैं, उनमें दृढ़ता एवं दुर्गन्धता नाममात्र को भी नहीं होती। हमारे यहाँ के खूनी मनुष्य रक्तपात के उत्कट जोश को किसी प्रकार भी अपने मन में नहीं रोक सकते। जालिया जो जाल को बढ़ाता है, कुछ समय बाद वह स्वयं उसी जाल में सिर से पैर तक जकड़ जाता है। ऐसे बेजान देश में जासूस के कार्यों में न तो सुख है और न गौरव ही। बड़े बाजार के मारवाड़ी जुए खोर को व्यर्थ में गिरफ्तार करके मैंने कई बार अपने मन में कहा—अरे अपराधी, कुल कलङ्की! दूसरों का सत्यानाश करना गुण्डे लोगों का काम है, तेरे जैसे अनाड़ी को साधू-सन्यासी होना था। खूनी पकड़कर उसके प्रति सोचता—"सरकार के ऊँचे फांसी के तख्ते क्या तुम जैसे गौरव-हीन प्राणियों के लिए हैं? तुम्हारे में न तो आत्म-संयम है और न उदार कल्पनाशक्ति ही। तुम खूनी होने से स्पर्द्धा करते हो।"

मैं कल्पना शक्ति से जब लन्दन तथा पेरिस के रास्तों के दोनों तरफ की ठण्डी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ देखता तो मेरे शरीर में रोमाँच हो उठता। मैं मन-ही-मन सोचता कि ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में राजपथ तथा उप-पथों पर जैसे कर्म-स्रोत, जल-श्रोत तथा उत्सव-स्रोत नित्य प्रति वह रहा है, वैसे ही चारों ओर एक हिंस्र, कुटिल, भयङ्कर अपराध प्रवाह के नीचे अपना रास्ता बनाता वह रहा है और उसी के पास योरोपियन सामाजिकता का हास्य कौतुक कैसी विराट-भीषण सुन्दरता का रूप लिए हुएहै। हमारे कलकत्ते के रास्तों के पास, मुक्त वातायनों में, घरों के अन्दर,

खाना पकाना, गृह-कार्य, परीक्षा के लिए पढ़ाई, ताश, शतरंज की बैठक, गृह-कलह, मातृ-विच्छेद और मुकदमे वालों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किसी के घर की ओर देखकर मन में यह नहीं आएगा कि शायद इसी समय गृहस्थ के किसी एक कौने में शैतान अपनी काली-काली मूँछों पर ताव दे रहा है।

मैं अधिकतर सड़क पर चलने वालों के चाल-चलन तथा उनके मुख पर दृष्टिपात करता। जहाँ-कहीं भी उनकी भावभङ्गी में मुझे सन्देह होता, मैं चुपचाप उनके पीछे चल देता। उनके नाम तथा घर का पता लगाता और अन्त में निराश होकर सोचता कि वे निष्कलङ्क हैं। यहाँ तक कि उनके सगे-सम्बन्धी भी अकेले में कोई भयानक या झूँठा अपवादात्मक प्रचार नहीं करते हैं। राहगीरों में जिनमें सबसे अधिक पाखण्ड दिखाई देता हो, यहाँ तक कि जिसको देखकर मुझे पूर्ण विश्वास हो जाता कि यह अवश्य इसी समय कोई भयङ्कर अपराध करके आ रहा है, जाँच-करने पर पता लगता कि कोई स्कूल का सहायक-अध्यापक है जो पढ़ाकर आ रहा था। यह मनुष्य अन्य किसी देश में पैदा होने से अवश्य कोई मशहूर चोर या डकैत होता, केवल यथोचित जीवन शक्ति तथा यथेष्ट परिभाषा पौरुष के अभाव में ही ये हमारे देश में अध्यापकी कर वृद्धावस्था में पेंशन ले बैठते हैं। अनेक कोशिशों और निरीक्षण के पश्चात् उस अध्यापक की निर्दोषता पर मुझे जैसी अश्रद्धा होती थी, वैसी शायद एक मामूली चोर पर भी नहीं होती होगी।

संध्या समय अपने घर के पास गैस पोस्ट के नीचे मैंने एक आदमी को देखा, जो व्यर्थ ही बार-बार एक ही स्थान पर घूम रहा था। मैं उसे देखकर निःसन्देह हो गया कि यह अवश्य किसी गोपनीय दुरभिसन्धि के पीछे नियुक्ति है। अस्तु मैंने नीचे अँधेरे में रहकर एकबार उसके चेहरे को ध्यान से देख लिया—तरुण उम्र, बोलने में भी सुन्दर। मैं मन ही मन बोला—'अपराध करने का यही तो उपयुक्त चेहरा है, स्वयं की मुखश्री ही इसका सर्वप्रधान प्रमाण है कि उसे हर प्रकार के दुष्कर्मों से दूर रहना चाहिए। अच्छा काम करके वह निष्फल हो सकता है, परन्तु दुष्कर्मों द्वारा सफलता मिलना कठिन ही है। मैंने देखा—उस युवक का चेहरा ही उसकी सर्वप्रधान

चीरता है। मैंने इसलिए मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—"भगवान ने जो सुविधाएँ तुम्हें दी हैं, उन्हें पूर्ण रूप से कार्य में लगा सको तभी तो मैं कहूँगा—'शाबाश'।"

मैंने अँधेरे में से निकल कर उसके सम्मुख आकर पीठ पर चपत लगाते हुए कहा—"यह रहे, अच्छी तरह तो हो?" प्रश्न सुनकर वह प्रबल रूप से चौंक गया। उसका मुँह रक्तहीन हो गया। मैंने कहा—"क्षमा कीजिएगा, भूलवश एकाएक मैं आपको कोई दूसरा समझ बैठा।" परन्तु मैंने मन में सोचा—"भूल तो कुछ भी नहीं हुई जो कुछ सोचा था, वह ही निकला।' पर उसके लिए एकदम इतना अधिक चौंक जाना भी ठीक नहीं हुआ—इसके लिए मैं कुछ क्षुब्ध भी हुआ कि युवक को अपने शरीर पर और भी अधिक काबू होना चाहिए था। परन्तु श्रेष्ठता का समस्त आदर अपराधियों में विरल है। चोर को पूरी तरह चोर कहने में प्रकृति भी कन्जूसी करती है।

मैंने अँधेरे में आकर देखा वह गैसपोस्ट छोड़कर चला गया है। तब उसके पीछे-पीछे जाकर देखा वह 'गोदिग्धी' के तालाब के किनारे चित्त लेटा हुआ है। मैंने सोचा—'चिन्ता-उपाय करने का यही एक स्थान है। यह स्थान गैसपोस्ट के नीचे से कहीं अच्छा है। अगर कोई इसे देखे तो यही सोचेगा कि यह अँधेरे में पड़ा हुआ अपनी प्रेमिका का चन्द्रमुख अङ्कित करता हुआ कृष्ण-पक्ष की रात्रि के अभाव की पूर्ति कर रहा है।' अस्तु, मेरा चित्त उस लड़के के प्रति धीरे-धीरे आकृष्ट होने लगा।

मैंने खोज करके उसके रहने के स्थान का पता लगाया। उसका नाम मन्मथ है, वह कालेज का विद्यार्थी है। परीक्षा में सफल न होकर गर्मियों की छुट्टियों में इधर-उधर घूम रहा है। उसके अन्य साथी गर्मी की छुट्टियों में अपने-अपने घर चले गए हैं। इतनी लम्बी छुट्टियों में जब सभी छात्र अपने-अपने रहने की जगह छोड़कर चले गए हैं, तो ऐसा कौन दुष्ट है जो उसे छुट्टी नहीं दे रहा है। मैं उसे ढूँढ निकालने के निश्चय में संलग्न हुआ।

मैं भी उसके निवास-स्थान पर छात्र बनकर रहने लगा। पहले दिन जब मिला देखा तो उसने एक अजीब भाव से मेरी ओर देखा। मुझे उसके

वे भाव अच्छे नहीं लगे। मैं समझ गया कि शिकारी के योग्य ही यह शिकार है। इसको सीधी तरह कायदे में नहीं लाया जाएगा। परन्तु जब उससे मित्रता करने की चेष्टा की तो वह बिल्कुल भी नहीं हिचकिचाया। उस समय मैंने यह अनुभव किया कि वह भी मुझे सदा तिरछी नजरों से देखा करता है, शायद वह भी मुझे पहचानने का प्रयत्न करता है।

शुरू के लक्षण मानव-चरित्र के प्रति सदैव सतर्क कौतूहली होते हैं। इतनी कम अवस्था में इतनी चतुरता देखकर मैं बहुत आनन्दित हुआ। मन में सोचा—बीच में एक रमणी न रहने से इस असाधारण अकाल धूर्त युवक के हृदय-पट खोलना सहज नहीं हैं। मैंने एकदिन उससे सस्नेह कहा—"भाई मैं एक स्त्री को प्रेम करता हूँ परन्तु वह मुझे प्यार नहीं करती।"

पहिले तो वह थोड़ा सा आश्चर्यचकित हुआ, इसके पश्चात् मुस्काकर बोला—"ऐसा दुर्योग विरल है। इस प्रकार के कौतूहल करने के लिए ही भगवान् ने पुरुष और नारी में भेद किया है।" मैंने कहा—"मुझे तुम्हारी सहायता तथा परामर्श की आवश्यकता है।" उसने सम्मति देदी। मैंने उससे बना-बनाकर खूब बातें कहीं। उसने सब कुछ ध्यान से सुना, पर अधिक बोला नहीं। मेरा विचार था कि प्रेम की बातें, विशेषकर गर्हित प्रेम की बातों से अनतरंगता बढ़ती है। परन्तु यहाँ उसका व्यतिक्रम हुआ। वह लड़का अब पहिले से और भी अधिक चुप रहने लगा। हालाँकि उसने समस्त बातों को चुपचाप ग्रहण कर लिया था। मेरी उसके प्रति भक्ति की सीमा नहीं रही।

इधर मैं अब तक यह न जान सका कि मन्मथ दरवाजा बन्द करके क्या करता है। उसकी गोपन अभिसन्धि कहाँ तक सफल हुई। तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह अग्रसर हो रहा था। वह किसी एक गूढ़ विषय में डूबा हुआ है तथा वह सम्प्रति वह विषय और भी अधिक परिपक्व हो गया है—यह उस नवयुवक के चेहरे से ही अनुमान लगाया जा सकता था। मैं छिपकर उसके डैक्स को देख चुका हूँ। उसमें सिर्फ एक कविताओं की कापी, कालेज के नोट्स तथा घर से आई हुई चिट्टियों के अलावा और कुछ नहीं है। घर से आई हुई चिट्ठियों से विदित होता है कि घर वाले उसे बारबार घर आने

के लिए लिख रहे हैं, परन्तु घर न जाने का कोई न कोई उपयुक्त कारण अवश्य होगा। यदि वह न्यायोचित होता तो बातों में अवश्य ज्ञात हो जाता। परन्तु इसके विपरीत की सम्भावना होते हुए, उस युवक की गतिविधि एवं इतिहास मेरे समीप एक निरातिशय कौतूहल हो गया है। जो असामाजिक मनुष्य पाताल में रह कर हमेशा इस मनुष्य-समाज को नीचे की ओर से हिला रहा है, यह युवक उसी विश्वव्यापी वहु-पुरातन वृहत जाति का एक भाग है। यह एक साधारण कालेज का विद्यार्थी नहीं है, यह संसार के वृक्ष पर विहार करने वाली सर्वनाशिनी का सहचर है। यह वंगाली छात्र के वेश में आधुनिक काल के चश्मे लगाए हुए कालेज में पढ़ रहा है। नरमुण्डधारी कपाली के भेष में भी इसकी भैरवता मेरे पास इतनी भैरवतार नहीं होती—मैं इसीलिए इससे भक्ति करता हूं।

अन्त में मुझे सशरीर रमणी का प्रवन्ध करना पड़ा। पुलिस से वेतन प्राप्त 'हरिमति' मेरी सहायक हुई। मैंने मन्मथ से कहा—मैं इस हरमति का हतभाग्य प्रणयाकाँक्षी हूँ।" फिर मैं कई दिन गोलदिधि के पास मन्मथ के साथ रहकर हरमति को लक्ष्य करके 'फिर क्यों नभ में सुधांशु उदय हुआ रे' कविता को बार-वार दुहराता। हरमति ने भी एक प्रकार के नाटकीय ढंग से जताया कि वह अपना हृदय मन्मथ को अर्पित कर चुकी है। किन्तु, आशा के अनुरूप फल नहीं मिला। मन्मथ निर्लिप्त, अविचलित कौतूहल के साथ सव कुछ देखता रहा। एक दिन मुझे शाम को फर्श पर पत्र के कई टुकड़े मिले। उन्हें जोड़कर "आज शाम को सात वजे छिपकर तुम्हारे घर में"—के अतिरिक्त वहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी और कुछ आशय मैं नहीं निकाल सका।

मेरा हृदय प्रसन्न हो उठा। मैं उसी प्रकार हो गया, जिस प्रकार मिट्टी में से किसी विलुप्त वंश के प्राचीन प्राणी को केवल एक हड्डी पाकर जीव-विज्ञान की कल्पना प्रसन्नता से जाग उठती है।

मैं जानता था कि आज रात को दस वजे हमारी हरमति का आविर्भाव होने वाला है, इसीलिए आज सात बजे क्या होता है यह देखना

चाहिए। युवक जैसा साहसी है वैसी ही उसकी बुद्धि है। यदि वह कोई घोर अपराध का काम करता तो ऐसे ही दिन, जिस दिन कोई नई चहल-पहल हो, क्योंकि ऐसे दिन प्रधान चहल-पहल की ओर ही सब लोग आकृष्ट रहते हैं। दूसरे जिस दिन जहाँ कोई विशेष आयोजन होता है, वहाँ कोई इच्छा-पूर्वक छिपकर अपराधपूर्ण कार्य करेगा—यह कोई भी नहीं सोच सकता। यकायक मुझे सन्देह हुआ कि मेरे साथ मन्मथ की नई दोस्ती एवं हरिमित के साथ प्रेमाभिनय, इसे भी उसने अपने कार्य सिद्धि का एक उपाय कर लिया है। इसी कारण वह न तो पकड़ में ही आता है और न छोड़कर ही जाता है। हम लोगों ने उसके गोपान-कार्य को सहारा दे रक्खा है और वह भी इस भ्रम को दूर नहीं करना चाहता, क्योंकि उससे 'यह हमारे साथ है'—सब लोग यही सोचेंगे।

एक बार सम्पूर्ण तर्कों पर विचार करके देखिए—जो विदेशी छात्र छुट्टियों में भी घरवालों की अनुनय-विनय की परवाह न कर एकान्त स्थान में अकेला रहता है, जिसे यह स्थान विशेष प्रिय है, मैंने, जिसके पास आकर उसकी निर्जनता भङ्ग की तथा एक युवती की अवतारणा करके नए उपद्रव पैदा किए, परन्तु तो भी न तो वह विरक्त ही हुआ तथा न उसने हमारा साथ ही छोड़ा। यह भी सत्य है कि वह हमारे प्रति बिल्कुल भी आसक्त नहीं है, अपितु उसकी असतर्क-अवस्था में मैंने बार-बार लक्ष किया है कि हम-दोनों के प्रति उसकी आन्तरिक घृणा बढ़ रही है। इस सब का एकमात्र मतलब यही है कि आदमियों के साथ रहते हुए भी अगर एकान्त की सुविधा भोग करनी हो तो मुझ जैसे नए परिचित आदमी को ही पास रखना सबसे अच्छा उपाय है। इससे पहिले मन्मथ के आचरण पर जो सन्देह के भाव थे वे मेरे आने के पश्चात् समाप्त हो गए। परन्तु इतनी दूर की बात एक क्षण में विचारने वाला स्वार्थी आदमी हमारे बंगाल में पैदा हो सकता है, यह सोचकर मेरा हृदय पूर्ण उत्साहित हो गया। यदि मन्मथ कोई बाधा न देता तो उसे मैं दोनों हाथों से पकड़कर हृदय से अवश्य लगा लेता।

उस दिन मैंने मन्मथ से मिलते ही कहा—"आज शाम को सात बजे

मैंने तुम्हें होटल में खाना खिलाने का निश्चय किया है।" वह यह सुनकर चौंका, परन्तु सम्हल कर बोला—"भाई ! आज क्षमा करो, मेरा पेट ठीक नहीं है।" होटल के खाने में मन्मथ की मैंने कभी भी अरुचि नहीं देखी थी, परन्तु आज उसकी अन्तरेन्द्रिय निश्चय ही किसी कठिन अवस्था में उपनीत होगी।

उस दिन सन्ध्या के पूर्व भाग में मेरा वासा में रहना निश्चित था, परन्तु उस दिन मैं जान बूझकर बहाने बनाकर शाम को उठने का नाम नहीं ले रहा था। अन्त में घड़ी देखते हुए बेचैन होकर उसने कहा—"क्या, आज हरिमति को लाने नहीं जाओगे ?" मैंने चौंककर कहा—'हाँ, हाँ, यह तो मैं भूल ही गया था। भाई, तुम खाना पकाकर रखना, मैं ठीक साढ़े दस बजे उसे ले आऊँगा।" मैं यह कहकर चला आया।

मेरे समस्त शरीर पर आनन्द का नशा चढ़ने लगा। शाम को सात बजे मन्मथ का जो आग्रह देखा तो मेरी उत्सुकता भी उससे कुछ कम न थी। मैं अपने वासा से कुछ दूर अँधेरे में रह-रहकर बार-बार घड़ी की तरफ देख रहा था। गोधूलि का अन्धकार घना हो जाने पर जब गैस जलने का समय हुआ तो एक पालकी जिसका दरवाजा बन्द था, हमारे होटल के भीतर आई। उस ढकी हुई पालकी में एक आँसुओं से सींचा हुआ अवगुण्ठित कन्ठ एक मूर्तिमती ट्रेजेडी को कालेज के छात्रावास में कई उड़ियों के कन्धों पर हाँपते शब्दों से अनायास भाव से प्रवेश करते हुए देख, मेरा समस्त शरीर पुलकित हो उठा।

मैं अब अधिक विलम्ब सहन न कर सका, बहुत देर के पश्चात् धीरे-धीरे सीढ़ी से निकलकर दूसरी मंजिल पर आ गया। इच्छा तो थी, छिपकर सब बातें देख लूँगा, परन्तु यह न हो सका; क्योंकि सामने घर में मन्मथ सीढ़ी की ओर मुँह करके बैठा था तथा उसके विपरीत एक अवगुण्ठिता नारी मधुर स्वर में बातें कर रही थी। मैंने देखा कि मन्मथ मुझे देख चुका है तो शीघ्र ही मैं घर में प्रवेश करके बोला—"भाई, मैं अपनी घड़ी भूल गया, उसे लेने आया हूँ।" उस समय मन्मथ इतना अभिभूत हो गया कि ऐसा लगा

मानो वह अभी फर्श पर गिर जाएगा। मैंने कौतुक और आनन्द से व्यग्र होकर कहा—क्यों भाई, तुम कुछ अस्वस्थ हो ?" उसने कोई उत्तर न दिया। तब मैंने उस काठ की पुतली के समान रमणी की ओर मुँह करके पूछा—"मन्मथ की आप कौन होती हैं ?" कोई उत्तर नहीं मिला, परन्तु देखा—"वह मन्मथ की कोई नहीं है, अपितु मेरी ही स्त्री है।" इसके पश्चात् की घटना सब जानते हैं।

यही मेरे जासूसपद का पहला चोर पकड़ना है।

मैंने कुछ देर पश्चात् जासूस महिमचन्द्र से पूछा—"तुम्हारी स्त्री का मन्मथ के साथ सम्बन्ध समाज के विरुद्ध नहीं भी हो सकता है।"

महिम ने उत्तर दिया—"न होना भी सम्भव है।" मन्मथ की यह चिट्ठी मेरी स्त्री के बाक्स में मिली है।" कहकर उसने एक चिट्ठी मेरे हाथ में दी, वह निम्नलिखित हैं—

"सुचरितासु,

तुम शायद इस भाग्यहीन मन्मथ को भूल गई होगी। बचपन में जब मामा के घर जाया करता था तो सदैव तुम्हारे घर जाकर तुम्हारे साथ खेला करता था। हमारा वह खेल, घर तथा वह खेल का सम्बन्ध अब टूट चुका है। तुम यह जानती हो कि नहीं, एकबार मैंने निर्लज्ज होकर तुम्हारे साथ अपना विवाह करने का प्रस्ताव किया था, परन्तु हमारी उम्र बराबर होने के कारण वह सम्बन्ध न हो सका।

"इसके पश्चात् तुम्हारा विवाह हो गया दथा चार-पाँच वर्ष तक तुम्हारी कोई खबर भी नहीं मिली। आज पाँच महीने से तुम्हारे पति पुलिस की ड्यूटी पर इस शहर में आए हुए हैं। मैंने यह समाचार मिलते ही तुम्हारा घर ढूँढ़ निकाला। तुमसे मिलने की दुराशा मेरी नहीं है। भगवान् जानते हैं, तुम्हारे गृहस्थ सुख में उपद्रव की भाँति प्रवेश करने की भी मेरी अभिलाषा नहीं। सन्ध्या समय तुम्हारे घर के सामने गैस पोस्ट के नीचे सूर्य की उपासना करने वाले की भाँति खड़ा रहता हूँ। तुम शाम के ठीक साढ़े सात बजे मिट्टी के तेल का चिराग लेकर रोज नियमित रूप से दूसरी

मंजिल से उतर करके काँच की खिड़की के पास आती हो तो तुम्हारी दीपालोकित प्रतिमा मेरी दृष्टि के रास्ते पर उद्‌भाषित हो उठती है ? बस, तुम्हारे संबन्ध में मेरा यही अपराध है।

अकस्मात् घटनाचक्र से तुम्हारे पति से परिचय एवं घनिष्ठता हो गई है। उनका चरित्र जैसा देखा वैसा समझने में देर न लगी कि तुम सुखी नहीं हो; तुम्हारे पति पर मेरा काई सामाजिक अधिकार तो नहीं है, परन्तु भगवान ने तुम्हारे दु:खों को दूर करने का भार मेरे ही ऊपर दिया है।

अत: मुझे क्षमाकर, शुक्रवार की शाम को सात वजे केवल बीस मिनट के लिए आओ, तो मैं तुम्हें तुम्हारे पति के विषय में कोई गोपनीय बात बताऊँगा। यदि तुम्हें विश्वास न हो और सहन कर सको तो मैं तुम्हें प्रमाण भी दे सकता हूँ तथा साथ-ही-साथ कुछ सलाह भी देना चाहता हूँ। मैं भगवान् को हृदय में रखकर आशा करता हूँ कि उस सलाह के अनुसार चलने पर तुम एक दिन अवश्य सुखी हो सकोगी। मेरा उद्देश्य पूरी तरह निश्वार्थ भी नहीं है। क्षणभर के लिए तो मैं तुम्हें अपने सन्मुख रखूँगा और तुम्हारे चरण स्पर्श से अपने घर को चिरकाल के लिए सुख-स्वप्न-मंडित करूँगा—मेरी यही हृदयाकांक्षा है।

यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास न हो तथा मुझे इस सुख से वंचित करना चाहती हो तो मुझे लिख देना। मैं पत्र द्वारा तुम्हें सब कुछ बताऊँगा। यदि तुम्हें चिट्ठी लिखने का साहस न हो तो यह पत्र अपने पति को दे देना, उसके पश्चात् सारी बातें मैं उन्हीं से करूँगा।

सदैव शुभाकांक्षी—
मन्मथकुमार मजूमदार

# भैया

अपने छोटे भाई रसिक को वंशीवादन जितना प्यार करता था, उतना प्यार साधारणतया कोई माँ भी अपने बच्चे को नहीं करती है। पाठशाला से लौटने में रसिक को यदि कभी देर हो जाती तो वह अपना सब काम-काज छोड़कर उसे ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ता था। वह उसे खिलाए बिना, कभी स्वयं भोजन नहीं कर सकता था। यदि कभी रसिक की तबियत थोड़ी भी खराब हो जाती तो वंशी की दोनों आँखों से आँसू बरसने लगते थे।

आयु में रसिक, वंशी से सोलह वर्ष छोटा है। इस बीच और जिन भाई-बहिनों का जन्म हुआ था, वे सब के सब काल के गाल में समा गए। रसिक जब एक वर्ष का था, तभी उसकी माँ अपनी इस अन्तिम संतान को छोड़कर चल बसी थी और जब रसिक की अवस्था तीन वर्ष की हुई, तभी उसके पिता का भी स्वर्गवास हो गया। अतः रसिक के पालन-पोषण का सब भार तभी से अकेले वंशी पर आ पड़ा था।

वंशी का पैतृक व्यवसाय करघे पर कपड़ा बुनना है। इसी व्यवसाय द्वारा धन कमा कर वंशी के परदादा अभिराम बसाक ने अपने गाँव में एक देवालय बनवाया था, उसमें राधाकृष्ण की मूर्ति आज भी प्रतिष्ठित है, परन्तु जब से समुद्र पार के मशीन रूपी दैत्य ने आकर करघे के ऊपर अपने अग्निबाण की वर्षा की, तब से जुलाहों के घर में क्षुधारूपी दैत्य आ बैठा है और वह अपनी वाष्परूपी फुतकार से विजयरूपी भोंपू बजा रहा है। तो भी करघे का कठिन प्राण मानो मरना ही नहीं चाहता। दाँतों के बीच सूत

दवाकर, ठुक-ठुक करते हुए उसकी ठरकियाँ अभी तक किसी प्रकार चली ही जा रही हैं, यद्यपि उसका वह पुराना चाल-चलन चंचला लक्ष्मी के मन को विलकुल नहीं भाता है। छल-वल और कौशल से लोहे के दैत्य ने लक्ष्मी को अपने वश में बिलकुल ही कर रक्खा है।

वंशी को एक सुविधा यह थी कि थानोंगढ़ के बाबू लोग उसकी सहायता करते थे। उन लोगों के बड़े परिवारों के सभी अच्छे कपड़े वंशी ही बुनता था। सारे काम को वह अकेला ही पूरा नहीं कर पाता था, इसलिए उसे अपनी सहायता के लिए एक आदमी भी रखना पड़ता था।

वंशी के समाज में लड़कियों का मालभाव बहुत ऊँचा था, तो भी यदि वह चेष्टा करता तो इतने दिनों में किसी प्रकार एक स्त्री को वह अपने घर में ला सकता था। परन्तु रसिक के कारण यह काम नहीं हो सका। दशहरे के दिन वंशी ने रसिक के लिए कलकत्ते से जो कपड़े मँगवाए थे, वे राजकुमारों की पोशाक को भी मात करते थे। इसी प्रकार रसिक के लिए अन्य बहुत-सी अनावश्यक वस्तुओं को जुटाते रहने में वंशी को अपनी सभी आवश्यकताओं में कमी कर देनी पड़ती थी।

परन्तु वंश-रक्षा करना तो आवश्यकीय था, अतः वंशी अपनी ही जाति की एक लड़की को मन-ही-मन ठीक करके रुपया इकट्ठा करने लगा, तीन सौ रुपया नकद और एक सौ रुपए गहने के लिए जुट जाने पर लड़की मिल जाएगी। यह सोचकर वंशी थोड़ा-थोड़ा रुपया बचाकर रखने लगा, यद्यपि वंशी के पास रुपए नहीं थे, परन्तु समय की भी कोई कमी नहीं थी, क्योंकि जिस लड़की के साथ, वह अपना विवाह करना चाहता था, उसकी आयु अभी चार ही वर्ष थी, इसलिए अभी उसे कम-से-कम ५ वर्ष की म्याद धन इकट्ठा करने के लिए और मिल सकती थी।

परन्तु वंशी की जन्मपत्री में संग्रह के स्थान पर रसिक की दृष्टि पड़ी हुई थी और वह दृष्टि किसी शुभ-ग्रह की दृष्टि न थी।

रसिक अपने मुहल्ले का छोटा बालक था तथा अपने समवस्यक बालकों का सरदार था। जिसका पालन-पोषण सुख में हुआ हो और जिसे प्रत्येक

मनचाही वस्तु प्राप्त होती रहती हो, उसके ऊपर भाग्य की कृपा से वंचित अभागे लोग सदैव आकर्षित बने रहते हैं, मानो उसके पास जाने पर उन्हें भी अभिलाषित वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। जिसके पास बहुत कुछ हो, वही बहुत कुछ दे सकता है, और इसीलिए उसके पास लोगों का आना-जाना लगा रहता है, यह बात बिलकुल ठीक नहीं है। कुछ न देने पर भी ऐसा मनुष्य अन्य लोगों की इच्छित कल्पना को सन्तुष्ट अवश्य करता रहता है।

रसिक की शौकीनमिजाजी के कारण ही मुहल्ले के अन्य लड़के उसकी ओर आकर्षित होते हों, यह कहना उसके प्रति अन्याय करना होगा। रसिक की सभी बातों में कुछ ऐसी आश्चर्यजनक चतुराई भरी रहती थी, जिसके कारण उच्चवंश के बालक भी उसका आदर किए बिना नहीं रह सकते थे। वह जिस कार्य में भी हाथ डालता, उसे भली भाँति पूरा कर देता था। उसके हृदय तक पूर्व जन्म के किसी मूढ़ संस्कार का प्रभाव नहीं था। इसलिए जिसे देखता, उसी को अपना बना लेता। रसिक के इन गुणों के कारण सभी लड़के-लड़कियाँ, यहाँ तक कि उनके अभिभावक भी उससे प्रसन्न रहते थे। यदि उसमें कोई खराबी थी तो केवल एक यही कि वह किसी भी कार्य को मन लगा कर बहुत दिनों तक नहीं कर सकता था। किसी भी एक विद्या को सीख लेने के पश्चात् उसे वह अच्छी नहीं लगती थी। इस बारे में यदि कोई उसे कुछ समझाता तो वह उससे नाराज भी हो जाता था। एकबार दीवाली के अवसर पर बाबू लोगों के घर कलकत्ते से कुछ आतिशबाज आए। रसिक ने उनसे वह कला भी कुछ ही दिनों में भली-भाँति सीख ली। उसके द्वारा दो वर्ष तक उसने अपने मुहल्ले की काली पूजा के उत्सव को अपनी आतिशबाजी द्वारा जग मगाया, परन्तु तीसरी साल वह अपनी इस कला को दिखाने के लिए किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुआ। उस वर्ष वह नाटक-मंडली की ठाठदार पोशाक पहन कर, मैंडिल झुलाने वालों से उत्साह पाकर, हारमोनियम लिए, ठुमरी गाने का अभ्यास कर रहा था।

अपनी इन मन-मौजी हरकतों के कारण वह कभी सुलभ हो जाता और कभी दुर्लभ बन कर रह जाता। उसकी यह लीलाएँ लोगों

को और भी अधिक मुग्ध कर लेती थीं। फिर वंशी के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? वंशी सदैव यही सोचा करता कि यह आश्चर्य जनक होनहार बालक राजी-खुशी जीवित बना रहे, यही सर्वोत्तम है। जब कभी उसके हृदय में यह विचार आते तो उसकी आंखें आँसुओं से भर आती थीं और वह मन ही-मन राधा-कृष्ण से यह प्रार्थना करता था कि हे प्रभो ! तू इस बालक से पहले ही मुझे उठा लेना।

अपने होनहार भाई के नित्य नए शौक पूरा करने में भावी पत्नी का स्वप्न भविष्य के गर्भ में विलीन होता चला जा रहा था और इधर वंशी की उम्र भी निरन्तर ढलती चली जा रही थी। तीस वर्ष से अधिक की अवस्था हो जाने तक वंशी पूरे एक सौ रुपये भी इकट्ठे न कर पाया। जिस दिन वह लड़की भी, जिसके साथ रसिक का वह विवाह करना चाहता था, किसी दूसरी जगह बहू बनकर अपनी गृहस्थी सँभालने के लिए चली गई, उस समय वंशी ने मन-ही-मन कहा—'अब मुझे अपने लिए अधिक आशा नहीं रही, वंश की रक्षा का भार अब रसिक को ही उठाना पड़ेगा।'

यदि गांव में स्वयम्वर की प्रथा का प्रचलन होता तो रसिक के विवाह के लिए किसी प्रकार की चिन्ता करने के लिए आवश्यकता न पड़ती। विधु, तारा, शशि, सुधा—कितने ही नाम गिनाए जा सकते हैं– यह सभी रसिक को प्यार करती थीं। जिस समय रसिक अपने हाथ में गीली मिट्टी लेकर कोई मूर्ति बनाने का उपक्रम करता, उस समय उसके हाथ के बनाए हुए खिलौनों को प्राप्त करने के लिए उन लड़कियों में परस्पर मनमुटाव होजाने की स्थिति आ उपस्थित होती थी। उनमें एक लड़की का नाम सौरभी था। वह सदैव शान्त बैठी रहती थी। रसिक जब मिट्टी की पुतली बनाता, उस समय उसे चुपचाप बैठकर देखती रहती और आवश्यकता पड़ने पर रसिक की गीली मिट्टी तथा पतली लकड़ियाँ आदि देना, उसका कार्य रहता था। उसके मन में सदैव यह अभिलाषा बनी रहती थी कि रसिक उससे कोई चीज मांगे और वह उसे दे। काम करते २ रसिक कभी पान मांग उठेगा, यह जान कर सौरभी प्रतिदिन अपने घर से ही उसके लिए तैयार होकर आती थी।

जब रसिक अपने हाथ के बनाए हुए खिलौने उसके सामने रख कर पूछता—"सैरी ! तू इनमें से किस खिलौने को लेना चाहती है ?" उस समय वह संकोच के कारण एक भी खिलौना नहीं लेती, यद्यपि वह चाहती तो किसी भी खिलौने को ले सकती थी।

खिलौने बनाने का समय जब बीत जाता और हारमोनियम बजाने का समय आता, उस समय लड़के-लड़कियों का झुण्ड उस यन्त्र को दबाने के लिए टूट पड़ता था, परन्तु रसिक सभी को डाट-डपट कर वहाँ से भगा देता था। सौरभी कोई उपद्रव नहीं करती थी। वह डोरिया की साड़ी पहने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को खोलकर, बाँए हाथ पर शरीर को टेके हुए बैठकर आश्चर्यचकित-सी चुपचाप उसकी ओर देखा करती। उस समय रसिक उससे कहता—"सैरी ! इधर आ, तनिक इसे दबाकर तो देख।" यह सुनकर सौरभी मुस्कराने लगती और फिर भी जब वह पास नहीं आती तो रसिक स्वयं उसकी उँगलियों को अपने हाथ से पकड़कर बाजा बजवा लेता था।

रसिक के भक्तों में सौरभी के बड़े भाई गोपाल का मुख्य स्थान था। उसके और सौरभी के स्वभाव में केवल इतना ही अन्तर था कि वह किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए अनुरोध न करके, स्वयं ही ले बैठता था और जब तक वह वस्तु उसे प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक चैन नहीं लेने देता था। उसे जो भी नई वस्तु दिखाई देती, उसी को प्राप्त करने के लिए वह घबरा उठता। यद्यपि रसिक के लिए किसी की दुलारभरी माँग का कोई मूल्य नहीं था, फिर भी अन्य बालकों की अपेक्षा गोपाल को वह अधिक प्रश्रय देता था।

इस जोड़ी को देखकर वंशी ने मन-ही-मन विचार किया कि सौरभी के साथ रसिक का विवाह कर देना ठीक रहेगा, परन्तु सौरभी का वंश वंशी के कुल से ऊँचा था, इसलिए यह काम पाँच सौ रुपये से कम में होने की कोई आशा नहीं थी।

## २

वंशी ने अपने बुनाई के काम में सहायता करने के लिए रसिक से

आज तक कभी नहीं कहा था। उसने परिश्रम का सम्पूर्ण भार अपने कन्धों पर ही उठा रक्खा था। रसिक भाँति-भाँति के अनावश्यक कार्यों में व्यस्त रह लोगों का जो मनोरंजन किया करता था, उसे देखते रहना ही रसिक को पसन्द था। उधर रसिक सोचता कि भैया दिन-रात एक-मात्र इस करघे के काम में ही न जाने किस प्रकार जुटे रहते हैं। इनके स्थान पर यदि मैं होता तो मर जाने पर भी कभी ऐसा न करता। उसके भाई बहुत ही कम खर्च में अपना काम चलाते हैं, यह देखकर रसिक उसे कृपण समझता था। उसके मन में अपने भाई के इस व्यवहार के प्रति बड़ी लज्जा भरी रहती थी। बाल्यावस्था से ही वह स्वयं को अपने भाई से अलग, किसी उच्च श्रेणी का प्राणी समझता था और उसकी इस धारणा का प्रश्रय देने वाला भी उसका भाई वंशी ही था।

इन्हीं दिनों जब वंशी अपने विवाह की आशा त्यागकर रसिक के लिए बहू लाने को सचेष्ट हुआ, तब वह वह अपने मन में और अधिक धीरज न रख सका। वंशी को प्रतिदिन विलम्ब असह्य प्रतीत होता था। उसके हृदय में सदैव इस आनन्द का चित्र खिचता रहता कि बाजे बज रहे हैं, बत्तियाँ जगमगा रही हैं और दूल्हा-वेषधारी रसिक का विवाह हो रहा है।

रसिक का विवाह करने के लिए वंशी रुपया इकट्ठा करने का जितना प्रयत्न करता, सफलता उतनी ही दूर होती चली जाती। विशेष कर मनकी इच्छा के समान शरीर का वश नहीं चलता था। मानों वह बार-बार टूट जाता था। शारीरिक शक्ति की अपेक्षा उसके परिश्रम की मात्रा दिन प्रति-दिन बढ़ने लगी। जिस समय गाँव के सब लोग सो जाते, और चारों ओर सन्नाटा छा जाता और केवल गीदड़ों का स्वर ही सुनाई देता, उस समय भी वंशी टिमटिमाते हुए दीपक के सामने अपने काम में निरन्तर झुका रहता, इस प्रकार का दृश्य कितनी ही रातों में बराबर दिखाई दिया था।

अधिक काम करने से मना करने वाला घर में कोई भी न था। अस्तु, अधिक परिश्रम और पुष्टि कर भोजन के अभाव में वंशी ने अपने आप को दुर्बल बना डाला। जाड़े में ओढ़ने के लिए जो कपड़ा उसके पास था, वह

कई स्थानों से फट गया था तथा उसके छेदों में होकर लगने वाली ठण्डी हवा उसके शरीर को कँपा दिया करती थी। पिछले दो वर्षों से वह निरन्तर यही सोचता आया था कि किसी प्रकार इस वर्ष और इसी कपड़े से काट लूँ, जिससे हाथ में कुछ रुपया इकट्ठा हो जाए। अगले वर्ष जब पठान जाड़े के कपड़ों का बोझ लेकर यहाँ आएगा, तब उससे जाड़े का एक कपड़ा उधार खरीद लूँगा और अगली वर्ष उसका दाम चुका दूँगा, जब तक विवाह के लिए रुपया भी पूरा इकट्ठा हो जाएगा। परन्तु वंशी की सुविधा का यह वर्ष कभी नहीं आया। इस बीच में उसका शरीर इतना क्षीण हो गया, मानो वह अब और अधिक न टिक सकेगा।

अब इतने समय बाद वंशी ने अपने छोटे भाई से कहा—"रसिक ! अब करघे का काम मुझ अकेले से नहीं सँभलता। तुम मेरे साथ काम करके कुछ सहायता पहुँचाओ। रसिक ने इसका कुछ भी जवाब न देकर अपना मुँह टेढ़ा बना लिया। शरीर दुर्बल होने के कारण वंशी का स्वभाव चिड़चिड़ा हो चला था, अतः उसने रसिक को झिड़ककर, उसकी भर्त्सना करते हुए फिर कहा"तुम अपने बाप-दादों का रोजगार छोड़कर दिन-रात योंही बेकार घूमते रहोगे तो कैसे काम चलेगा ?"

वंशी की बात असंगत नहीं थी और उसे कड़वी बात भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसे सुनकर रसिक को यह जान पड़ा, मानो उसके जीवन में इतना बड़ा अन्याय पहिले कभी नहीं हुआ है। उस दिन उसने अपने घर में बहुत ही कम खाना खाया। फिर बन्शी लेकर मछली मारने के लिए पोखर के किनारे चला गया। जाड़े की निस्तब्ध दोपहरी पृथ्वी पर छाई हुई थी। टूटे हुए ऊँचे कगार पर बैठी मैंना नाच रही थी। समीप ही आम के बाग में पिडुकी बोल रही थी और पानी के किनारे सिवार पर बैठा हुआ एक जलपक्षी अपने दोनों पंख खोले हुए धूप का आनन्द ले रहा था। यह पहले से ही निश्चत हो चुका था कि आज रसिक गोपाल को लाठी चलाना सिखाएगा, परन्तु जब गोपाल ने यह देखा कि आज इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है, तब वह उन केंचुओं को अपने हाथ से टटोलले लगा, जिन्हें उसने मछली पकड़ने के

लिए अपने बर्तन में रख छोड़ा था। इसी बीच रसिक ने उसके गाल पर एक थप्पड़ लगा दिया। उधर सौरभी घाट के पास ही घास पर पैर फैलाए हुए यह विचार कर रही थी कि यदि रसिक किसी समय पान माँगेगा तो उसे तुरन्त देना होगा। तभी रसिक एकाएक उससे बोल उठा—"सैरी! मुझे जोर की भूख लग रही है। तू कुछ खाने को ला सकती है? सौरभी प्रसन्न होकर दौड़ती हुई अपने घर चली गई और वहाँ से आँचल में बाँधकर थोड़ी-सी फरुही ले आई। उस दिन रसिक अपने भाई के पास बिलकुल ही नहीं गया। उस दिन वंशी की भी तबियत खराब थी। रात्रि को उसने स्वप्न में अपने पिता को देखा। जगने पर उसका मन और भी अधिक व्याकुल हो गया। उसे मानो यह निश्चित रूप से अनुभव होने लगा कि वंश नष्ट हो जाने की आशंका से उसके पिता को परलोक में भी नींद नहीं आती है।

दूसरे दिन कुछ अधिक दबाव डाल कर वंशी ने रसिक को अपने काम में लगा लिया, क्योंकि वह व्यक्तिगत सुख-दुख की बात नहीं थी। दूसरे वंश-रक्षा के लिए वह आवश्यक भी था। रसिक काम करने के लिए बैठ तो गया, परन्तु उसे सुविधा प्रतीत नहीं हुई। उसका हाथ बिलकुल ही नहीं चलता था। उसका समय सूत लपेटने और ठीक करने में ही व्यतीत होने लगा। यह देख-कर वंशी ने सोचा—"काम का अभ्यास न होने के कारण ही ऐसा हो रहा है। कुछ समय बीतने पर रसिक का हाथ तेजी से चलने लगेगा। परन्तु रसिक को अपना हाथ ठीक करने की आवश्यकता न थी, इसीलिए उसके हाथ ने ठीक नहीं होना चाहा। विशेषकर उस समय, जब कि उसके साथी घूमते हुए उसके घर आकर यह देखते कि वह बहुत भले आदमी की भाँति अपने बाप-दादे के पुराने रोजगार में लगा हुआ है, तब रसिक के हृदय में लज्जा और क्रोध साथ-ही साथ भर आते थे।

उधर वंशी ने अपने एक मित्र द्वारा रसिक को यह सूचित करा दिया कि वह उसका विवाह सौरभी के साथ करने जा रहा है। उसे आशा थी कि इस समाचार को पाकर रसिक का हृदय कुछ नरम हो जाएगा, परन्तु ऐसे लक्षण दिखाई नहीं दिए। रसिक ने उस समाचार को सुनकर कहा—"भैया

शायद यह समझते हैं कि सौरभी के साथ विवाह हो जाने पर ही मैं मोक्ष-पद को प्राप्त कर लूंगा।"

अब सौरभी के साथ व्यवहार में भी रसिक ने ऐसा परिवर्तन कर दिया कि वह विचारी आँचल के कोने में पान बाँध कर उसके पास तक जाने का साहस नहीं कर पाती थी। रसिक के इस नवीन व्यवहार को देखकर उस छोटी-सी बच्ची को रुलाई आ उठी। अन्य लड़कियों की अपेक्षा उसे हारमोनियम बजाने का जो कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त हो गया था, वह तो नष्ट हो ही गया, इसके अतिरिक्त अब रसिक ने उससे कुछ माँगना भी छोड़ दिया था। ऐसी स्थिति में अब उसे अपना जीवन नितान्त शून्य एवं सम्पूर्ण संसार धोखे से भरा हुआ प्रतीत होने लगा।

पिछले दिनों में रसिक ने अपने गाँव के बाग-बगीचे राधा-कृष्ण का मंदिर, मेले का स्थान, नदी खेवा घाट, पोखर, लुहार टोला, बढ़ई टोला,बाजार आदि सभी स्थानों में अपने आनन्द और आवश्यकता के अनुसार अपना प्रभुत्व जमा लिया था। इन सभी स्थानों में से प्रत्येक जगह उसका एक-एक अड्डा था। उसकी जिस दिन भी जहाँ रहने की इच्छा होती, वहीं वह अकेला अथवा अपने साथियों के घर किसी न किसी काम से जुटा रहता था। अब तब उसने इस गाँव तथा थानागढ़ के बाबुओं के घर को छोड़कर, संसार के अन्य किसी भी मकान को अपनी जीवन-यात्रा के लिए उचित नहीं समझा था, परन्तु आज उसका मन इस गाँव से बिल्कुल ही उचट गया। उसकी इच्छा हुई कि वह किसी बहुत दूर के स्थान में चला जाए। रसिक के पास समय की कमी नहीं थी, क्योंकि वन्शी उससे अधिक देर तक काम नहीं लेता था। परन्तु काम के उस थोड़े से समय में ही रसिक का सारा समय मानो नीरसता से भर जाता। अपने मनोरञ्जन को त्याग कर, ऐसे नीरस कार्य में मन लगाना उसे बिलकुल ही अच्छा प्रतीत नहीं हुआ।

## ३

उन्हीं दिनों की बात है। थानागढ़ के बाबुओं का एक लड़का एक

बाईसिकल खरीद लाया। वह उस पर चढ़ने का अभ्यास करने लगा। रसिक ने कुछ ही दिनों में उससे बाईसिकल माँग कर उस पर चढ़ना सीख लिया। साईकिल पर चढ़ते समय वह सोचता—मानों उसके पैरों के नीचे एक पङ्ख लग गया है। अहा! यह कैसा चमत्कार है, कैसी स्वतंत्रता है, कितना महान् आनन्द है! यह महान् दूरी की सभी बाधाओं को सुदर्शन-चक्र की भाँति अनायास ही काटता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है, मानों आंधी ही वायु पहियों का स्वरूप धारण कर, मतवाले की भाँति मनुष्यों को अपनी पीठ पर बैठाकर दौड़ती चलती है। रामायण तथा महाभारत के युग में मनुष्य जिस प्रकार कभी-कभी देवताओं के अस्त्रों का व्यवहार करता था, उसी प्रकार मानो यह भी है।

रसिक को ज्ञात हुआ मानो बाईसिकल के बिना उसका सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ है। दाम भी कोई अधिक नहीं, केवल एक सौ पच्चीस रुपया में ही यह आ जाती है। इस प्रकार केवल थोड़े सें रुपयों से ही मनुष्य एक ऐसी नवीन शक्ति को प्राप्त कर सकता है जिसके समक्ष अन्य सभी वस्तुएँ मँहगीं जान पड़ती हैं। उपयोगिता की दृष्टि से इसे बहुत ही सस्ता समझना चाहिए। भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ तथा सूर्य के साथी अरुण ने सृष्टिकर्त्ता को कुछ कम कष्ट नहीं दिया। इसी प्रकार इन्द्र को उच्चैश्रवा की प्राप्ति के हेतु समुद्र-मन्थन करना पड़ा था, परन्तु यह बाईसिकल अपनी संसार-विजयिनी गति को स्तब्ध करती हुई, केवल एक सौ पच्चीस रुपया के लिए दूकान के एक कोने में दीवाल से टिकी हुई, अविराम प्रतीक्षा कर रही है।

रसिक ने यह प्रतिज्ञा की थी कि अब वह अपने भाई से कुछ भी नहीं माँगेगा, परन्तु उससे अपनी इस प्रतिज्ञा की रक्षा न हो सकी। हाँ, उसने माँगने की क्रिया में कुछ अन्तर अवश्य कर दिया। वह बोला—'भैया! तुम्हें मुझे एक सौ पच्चीस रुपए उधार देने पड़ेंगे।"

कुछ दिन हुए रसिक ने वंशी से कुछ भी नहीं माँगा था, इसलिए वंशी के शरीर में दिन-रात एक और गहरी वेदना पीड़ा करती चली आ रही थी। अस्तु, आज ज्योंही रसिक ने अपनी माँग रक्खी तो क्षणभर के लिए वंशी का

मत नृत्य कर उठा। उसने विचार किया—"इस प्रकार खींचातानी अधिक नहीं चल सकेगी, अतः अच्छा है कि में रसिक को रुपए दे डालूँ, परन्तु उसी समय जब वंश-रक्षा का ध्यान आया तो वह सोचने लगा—'एक सौ पच्चीस रुपए दे देने पर फिर क्या बचेगा तथा डूबते हुए वंश की रक्षा कैसे हो सकेगी ? और रसिक उधार माँगता है ? क्या यह कभी यह उधार चुका सकेगा ?' यदि ऐसा हो जाता, तब तो फिर वंशी के निश्चित होकर मरने में कोई कष्ट ही नहीं था।

खूब सोच-विचार कर वंशी ने अपने हृदय को बिलकुल पत्थर की भाँति बनाकर उत्तर दिया—"यह कैसे हो सकता है ? एक सौ पच्चीस रुपए मैं कहाँ से लाऊँ ?"

भाई का उत्तर पाने के बाद रसिक ने अपने मित्रों से कहा—"यदि मुझे एक सौ पच्चीस रुपए न मिले तो में अपना विवाह ही नहीं करूँगा।"

जब यह बात वंशी के कान में पहुंची तो वह बोला—"यह भी खूब रही, लड़की को भी रुपए देने पड़ेंगे और वर को रुपए दिए बिना काम न चलेगा, ऐसा बोझा तो हमारी सात पुश्तों में किसी के ऊपर नहीं पड़ा।"

तब रसिक ने खुला विद्रोह करके करघे पर काम करना बन्द कर दिया। पूछने पर उत्तर देता—"मेरी तबियत ठीक नहीं है।" परन्तु करघे का काम छोड़ देने के अतिरिक्त उसके शरीर,खान-पान और आमोद-प्रमोद में किसी प्रकार की बीमारी का लक्षण दिखाई नहीं दिया। यह देखकर वंशी ने भी अपने मन-ही-मन अभिमान में भर कर कहा—"ठीक है, अब मैं भी उसे कोई काम करने के लिए कभी नहीं कहूँगा।" इतना कहकर वह स्वयं पर ही गुस्सा हो, अपने शरीर को और अधिक कष्ट देने लगा। उस वर्ष विदेशी वस्त्र-बहिष्कार आन्दोलन के कारण करघे के कपड़े का मूल्य और सम्मान बहुत बढ़ गया। जो लोग अपने इस पेशे को छोड़कर दूसरे कामों में लग गए थे, वे भी फिर से अपने पुराने विश्व में लौट आए। स्थिति यह हुई कि बुनाई के काम में क्षणभर की नागा होने पर वंशी घबड़ा उठता था। ऐसे समय यदि रसिक उसके काम में कुछ सहायता देता तो दो वर्ष का काम छैः मास में ही पूर्ण

हो सकता था, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। अतः स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी, वंशी अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करने लगा।

अब रसिक घर से बाहर रहकर ही अपना समय बिताया करता था। एक दिन संध्या के समय अधिक काम कर लेने पर वंशी का हाथ जब और अधिक चलने में आना-कानी कर रहा था, रीढ़ की हड्डी टूटी जा रही थी और बना बनाया काम बार-बार बिगड़ता चला जा रहा था, उसी समय उसे अचानक ही बहुत दिनों से उपेक्षित हारमोनियम पर लखनऊआ ठुमरी की ध्वनि सुनाई दी। एक समय वह भी था, जब रसिक का हारमोनियम बजाना सुनकर काम करते-करते वंशी का मन आनन्द और गर्व से भरकर, पुलकित हो उठता था। परन्तु आज वैसी बात नहीं हुई। वह अपने करघे से उठकर मकान के आँगन में जा पहुँचा, जहाँ उसने यह देखाकि रसिक किसी अपरचित आदमी को अपना बाजा और गीत सुना रहा है। यह देखकर वन्शी का ज्वर से जलता हुआ तथा परिश्रम से थकित शरीर और अधिक जल गया। उस समय उसके मु ह से जो भी बात निकली, उसको वह सुना बैठा।

उनकी बातों को सुनकर रसिक ने उद्धत होकर उत्तर दिया—"आज से मैं तुम्हारे अन्न में यदि कोई हिस्सा माँगू तो............।" वंशी बोला—"व्यर्थ बड़ाई मारने की आवश्यकता नहीं है। तुम में सामर्थ ही क्या है ? मैंने अब तक खूब देखा है। बाबू लोगों की नकल करके केवल बाजा-बजा लेने से ही कोई काम नहीं चलता" इतना कह कर वंशी वहाँ से लौट आया, परन्तु फिर वह करघे पर न बैठ सका। अतः कमरे में चटाई बिछाकर, उस पर जा लेटा।

उस दिन रसिक अपना हारमोनियम बजाकर मन बहलाने के लिए किसी साथी को ले आया हो, यह बात नहीं थी। थानागढ़ से जो सरकस आया था, उसमें नौकरी करने के लिए रसिक एक उम्मेदवार होकर गया था। इस समय वह उसी सरकस दल के एक आदमी के सामने बाजा बजाकर अपने गुण का परिचय दे रहा था। तब तक सङ्गीत के बीच में वंशी का स्वर आ पड़ा। आज तक वंशी ने अपने मुँह से रसिक को ऐसी कड़ी बात

कभी नहीं कही थी, इसलिए वह आज स्वयं ही हैरत में था और ऐसा अनुभव कर रहा था—मानो उसके द्वारा किसी अन्य व्यक्ति ने रसिक से इतनी निष्ठुर बातें कही हैं। इस प्रकार का ध्यान आने के बाद अब यह सम्भव नहीं रहा कि वंशी अपने इकट्ठे किए रुपयों को बचा सके। जिन रुपयों के कारण ऐसी अकल्पित घटना घटी, उन रुपयों के ऊपर वंशी को अत्यन्त क्रोध आने लगा। इस समय उसके हृदय में सुख नहीं था। रसिक जब 'भैया' शब्द का उच्चारण न कर सकता था, उस समय उसके कड़े हाथों से करघे के सूत को बचा लेना अत्यन्त कठिन कार्य था। उसे याद आने लगा कि उसका हाथ आगे बढ़ते ही रसिक अन्य लोगों की गोद से उछलकर उसकी छाती पर धम से आ गिरता था और उसके बालों को पकड़ कर खींचातानी कर उठता था। उसे याद आया जब रसिक छोटा था और अपने दांत-विहीन मुख में उसकी नाक पकड़ने की चेष्टा किया करता था। इन सब बातों को स्मरण हो आते ही वंशी फिर और अधिक लेटा न रह सका। उसने अत्यन्त करुण स्वर से रसिक का नाम लेकर कई बार जोर-जोर से पुकारा, परन्तु जब उसे कोई उत्तर न मिला तो वह ज्वर की हालत में ही उठकर, कोठरी से बाहर चला आया। आंगन में आकर उसने देखा कि हारमोनियम एक ओर पड़ा हुआ है और रसिक उस अंधेरे में चबूतरे पर एक ओर चुपचाप बैठा हुआ है। वंशी से अब और अधिक न ठहरा गया। उसने अपनी कमर से सांप की भांति एक लम्बी थैली खोल कर निकाली। फिर रसिक के पास पहुंचकर उस थैली को देने का उपक्रम करके, रुंधे हुए कण्ठ से बोला—"ले भाई! मेरा यह रुपया तेरे ही लिए तो है। तेरी ही बहू को घर में लाने के लिए मैं इसे इकट्ठा कर रहा था, परन्तु अब तुझे रुलाकर में इस रुपए को अपने पास न रख सकूंगा। मेरे भैया! मेरे गुपाल! मुझमें ऐसी शक्ति नहीं है। अब तू बाईसिकिल खरीद ले अथवा जो तेरी खुशी हो, वह काम कर।"

वन्शी की बात सुनकर रसिक उठकर खड़ा हुआ, फिर शपथ खाकर कठोर स्वर में कहने लगा—"बाईसिकिल खरीदूंगा और बहू लाऊंगा तो, यह सब काम में अपने रुपए से करूंगा, तुम्हारे रुपये को छुऊंगा भी नहीं।"

इतना कहकर वह वन्शी के किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए विना ही दौड़ता चला गया। अब इस रुपए के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए दोनों भाइयों के बीच कोई मार्ग नहीं रह गया था।

## ४

रसिक का सब से वड़ा भक्त गोपाल इन दिनों अभिमान करके उससे दूर ही दूर रहता था। वह रसिक के सामने ही उसे दिखा-दिखा कर अकेले मछलियाँ पकड़ने के लिए जाया करता था। पहले की तरह वह रसिक को न तो पुकारता और न वुलाता ही था। सौरभी के सम्वन्ध में कुछ कहने की वात ही नहीं है। रसिक के साथ उसकी अकड़ की भी होड़ लग रही है। यह अकड़ जीवनभर के लिए है। परन्तु इस अकड़ को रसिक के प्रति प्रदर्शित करने का अवसर न मिलने के कारण, वह अपने कमरे के कौने में चुपचाप बैठी रहती है। अभिमान के कारण उसकी आँखों में रह२कर आँसू भर आते हैं। ऐसे ही दिनों में एक दिन रसिक ने दोपहर के समय गोपाल के घर जाकर उसे आवाज दी। फिर उसके पास पहुँचकर, प्रेमपूर्वक उसका कान मल दिया। यह देखकर पहले तो गोपाल ने अभिमान में भरकर लड़ने का भाव दिखाना चाहा, परन्तु अधिक समय तक उसकी यह दशा न रही। उसी समय रसिक ने उससे पूछा—"गोपाल ! तू मेरे हारमोनियम को लेगा ?"

"हारमोनियम ?" इतना वड़ा दान क्या कलियुग में सचमुच ही सम्भव हो सकता है ? परन्तु गोपाल को जो चीज अच्छी लगती है, उस पर विना किसी संकोच के अपना अधिकार जमा लेने की शक्ति भी उसमें मौजूद है, इसीलिए उसने रसिक के हारमोनियम पर तुरन्त ही अपना अधिकार जमा लिया। फिर जोर से सुनाता हुआ बोला—"अब यह वापस माँगने से मिल नहीं सकेगा।"

जिस समय गोपाल ने रसिक को पुकारा था, उस समय वह निश्चित रूप से यह जान गया था कि उसकी पुकार को किसी और ने भी सुना है।

परन्तु जब आज उसे इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला, तब उसने गोपाल से कहा—"सैरी कहाँ है ? एकबार उसको बुला तो लाओ।"

गोपाल ने भीतर जाकर आज्ञा का पालन किया, परन्तु शीघ्र ही वापिस आकर बोला—"सैरी ने कहा है कि अभी उसके पास समय नहीं है। वह मँगौड़ी सुखा रही है।" रसिक ने यह सुनकर आँगन में प्रवेश किया तो देखा कि मँगौड़ी की कहीं गंध तक नहीं है। जब सौरभी को उसके पाँओं की आहट मिली तो वह अन्यत्र जा छिपने का उपाय करते हुए उन लोगों की ओर अपनी पीठ करके दीवाल के कौने में खिसक कर खड़ी हो गई। तभी रसिक ने उसके पास पहुँच कर' उसे अपनी ओर घुमाने की चेष्टा करते हुए कहा—"सैरी ! नाराज हो गई है क्या ?" परन्तु सौरभी अपने शरीर को कुछ इधर उधर मोड़कर, फिर भी दीवाल की ओर ही मुँह किए खड़ी रही।

एक दिन रसिक अपने मन के मुताबिक रंग-बिरंगे सूत मिलाकर विभिन्न प्रकार की आकृतियों से युक्त एक कथरी सी रहा था। लड़कियों की कथरी सीने के कुछ खास नक्शे निश्चित थे, परन्तु रसिक की कथरी का नक्शा उसके अपने मन की मौज के ऊपर निर्भर करता था। जिस समय रसिक की कथरी की सिलाई का कार्य चल रहा था, उस समय सौरभी दत्तचित्त होकर उसे देख रही थी। वह मन-ही-मन सोच रही थी कि ऐसी आश्चर्यजनक कथरी संसार में अभी तक कहीं नहीं बनी है। जिस समय कथरी का कार्य पूरा होने को था, उसी समय रसिक का मन उचट गया, इसलिए उसने कथरी को पूरा किए बिना ही छोड़ दिया। यह देखकर सौरभी के मन में अत्यन्त पीड़ा हुई। उस कथरी को पूरा करने के लिए सौरभी ने रसिक से कई बार अनुरोध किया था। वह थोड़ा सा काम दो-तीन घण्टे बैठने से ही पूरा हो सकता था, लेकिन जिस काम में रसिक की तबियत नहीं लगती थी, उसमें उसे लगाने की हिम्मत भला किसमें थी ? परन्तु कल रात को अचानक ही रसिक ने उस कथरी को पूरा कर दिया था। सो वह इस समय सौरभी से बोला—"सैरी ! मैंने उस कथरी को अब पूरा कर दिया है। तू उसे देखेगी कि नहीं ?"

अब की बार जब उसने बड़े कष्ट से सौरभी का सिर घुमाया, तो उसने उसे अपने आँचल से ढक लिया। उस समय सौरभी के दोनों गालों पर आँसू बह रहे थे। भला वह उन्हें दिखाती भी कैसे ?

सौरभी के साथ अपना पहला जैसा सम्बन्ध स्थापित करने में रसिक को बहुत समय लग गया। अन्त में दोनों में यहाँ तक सुलह हुई कि सौरभी ने रसिक को पान लाकर भी खिला दिया। उस समय रसिक ने भी उस कथरी को खोलकर आँगन में फैला दिया। उसे देखकर सौरभी का हृदय आश्चर्य से भर गया जब रसिक ने उससे यह कहा कि सैरी ! मैंने इस कथरी को तेरे ही लिए बनाया है और इसे तुझी को दे रहा हूँ, तब तो वह इतने बड़े दान को स्वीकार करके किसी भी प्रकार न ले सकी। संसार की किसी दुर्लभ वस्तु को माँगना भी सैरी ने नहीं सीखा था। इसलिए गोपाल ने उसे खूब धमकामा भी। मनोविज्ञान के सम्बन्ध में उसे कोई जानकारी नहीं थी। उसने समझा कि सुन्दर एवं आकर्षक वस्तु को लेने में लज्जा करना, दिखावे के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तब गोपाल समय को और अधिक नष्ट न कर उस कथरी को तह करके कमरे में रख आया। इस प्रकार फिर मेल-जोल हो गया। अब पहिले की भाँति फिर मित्रतापूर्वक दिनचर्या आरम्भ हो जाएगी, इस आशा से उसका हृदय अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठा।

उस दिन से रसिक ने अपने मुहल्ले के सभी लड़के-लड़कियों के साथ पूर्व की भाँति प्रेम-भाव बना लिया, परन्तु भाई के घर में वह एक बार भी नहीं गया। वंशी की रसोई बनाने के लिए जो प्रौढ़ा-विधवा-स्त्री आया करती थी, उसने दूसरे दिन सवेरे वंशी के पास जाकर जब यह पूछा कि आज रसोई में क्या बनेगा, तब उसने बिछौने पर लेटे हुए ही यह उत्तर दिया—"आज मेरी तबियत ठीक नहीं है, अतः मैं कुछ भी नहीं खाऊँगा। तुम रसिक को बुलाकर उसे खाना खिला देना।" यह सुनकर उस स्त्री ने उत्तर दिया—"रसिक ने मुझसे कहा है कि आज वह अपने घर खाना नहीं खाएगा। शायद, किसी अन्य स्थान पर उसे खाने का निमन्त्रण मिल गया है।" उस स्त्री की बात सुनकर वंशी ने एक लम्बी साँस ली और माथे तक चादर ओढ़कर, करवट बदलता हुआ लेट गया।

जिस दिन रसिक सन्ध्या के समय अपने गाँव को छोड़कर सरकस वालों के साथ चला गया, उस दिन वंशी का समय यों ही बीत गया। जाड़े की रात्रि थी। आकाश में आधा चन्द्रमा उग आया था। बाजार से सौदा खरीद कर सब लोग अपने घरों में घुस गए थे। जिन लोगों के घर दूर के मुहल्ले में थे, केवल वे ही अभी तक मार्ग में बात-चीत करते हुए चले जा रहे थे। एक खाली गाड़ी के भीतर गाड़ीवान चादर ओढ़े सो रहा था। उसके दोनों बैल गाड़ी को धीरे-धीरे खींचते हुए स्वयं भी घर की ओर चुपचाप चले जा रहे थे। जाड़े की उस रात्रि में शीत तथा ओस से भारी हो जाने के कारण धुआँ बांसों के झुण्ड में घुमड़ रहा था। जब रसिक मैदान के आखिरी छोर पर जा पहुंचा तब धुँधली चाँदनी में उसे गाँव के घने वृक्षों की नीलिमा तक न दिखाई दी। उस समय रसिक का मन अत्यन्त उदास हो उठा। यद्यपि लौट आनेका मार्ग कठिन था परंतु उसके हृदय की कठोरता अभी तक दूर नहीं हुई थी। वह सोचता जा रहा था—मैं बिना कमाई किए भैया का अन्न खाता हूँ, अतः जिस प्रकार भी हो, इस लाँछन को मिटाए बिना तथा अपने रुपये से बाईसिकिल खरीद कर उस पर चढ़कर आये बिना, अपने गाँव में वापिस लौटकर आना ठीक न रहेगा। पोखर का घाट, सूखसागर तालाब, खेतों में फूली हुई सरसों की गन्ध, आम के बागों में मधु-मक्खियों का गुंजन, समवयस्कों की मित्रता, आमोद-प्रमोद और उत्सव सब जहाँ के तहाँ पीछे छूट गए। अब, अब उसके सामने था—अपरिचित संसार, अनजाने लोग और उसका अपना भाग्य।

## ५

करघे के काम में रसिक को जो असुविधा दिखाई दी थी, उसने उसके हृदय में यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि अन्य सभी कार्य करघे से अच्छे होंगे। उसने विचार किया था—यदि वह एक बार अपनी गृहस्थी के इस संकीर्ण बन्धन को तोड़ कर बाहर निकल जाए तो फिर उसे कोई चिन्ता न रहेगी। यह विचार कर ही वह अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक बाहरी मार्ग पर चल पड़ा था। यह बात उसके ध्यान में बिलकुल भी नहीं आई थी कि इस मार्ग पर

चलने में कहीं कोई बाधा भी पड़ सकती है। जिस प्रकार बाहर खड़े होकर देखने से दूर का पहाड़ भी बहुत पास मालूम होता है और यह जान पड़ता है कि आध घण्टे का रास्ता पार करके ही उसकी चोटी पर पहुंचा जा सकता है, उसी प्रकार गाँव की सीमा से बाहर निकलकर रसिक को अपनी इच्छा की दुर्लभता अत्यन्त सहज और समीपवर्ती प्रतीत हुई। उसने किसी को भी यह खबर नहीं दी कि वह कहाँ और किसलिए जा रहा है। उसका यह निश्चय था कि एकदिन वह स्वयं ही खबर लेकर गाँव में लौटेगा।

जब उसने सरकस में काम करना आरम्भ किया, तब उसे यह प्रतीत हुआ कि बेगारी के कामों में जो आदर उसे अब तक मिलता रहा था, वह कुछ और ही था, तथा जहाँ अपनी गरज से कोई काम किया जाता है, वह दूसरी ही बात है। बेगारी का काम अपनी इच्छानुसार बिना किसी हिचक के अच्छी तरह किया जाता है। यही कारण है कि उसमें मन सदैव उत्साहित रहता है और काम में भी अच्छाई बनी रहती है। परन्तु जहाँ वेतन के लिए काम किया जाता है, वहाँ अनेकों बाधाएँ उठ खड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार के कार्य-रूपी नौका को खेने के लिए केवल पाल तानने से ही काम नहीं चलता, बल्कि इसके लिए मजदूर की भाँति दिन-रात केवल दाँड़ चलाना पड़ता है और लग्गी ठेलनी पड़ती है। रसिक ने जब दर्शक की हैसियत से सरकस को देखा था, उस समय उसने यह सोचा था कि सरकस में बहुत आनन्द है, परन्तु जब उसने नौकर के रूप से सरकस में प्रवेश किया तो यह देखा कि उसका सम्पूर्ण आनन्द समाप्त हो गया है। जब अपने कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं होती और मन यह करता है कि उससे छुटकारा पा लिया जाए, परन्तु फिर भी जब उससे छुटकारा नहीं मिलता, तब उस समय जो अरुचि होती है, उससे बढ़ कर बुरी वस्तु अन्य कोई नहीं है। सरकस-दल में शामिल होने के उपरान्त रसिक को प्रत्येक दिन अत्यन्त फीका महसूस होने लगा। वह प्रायः अपने घर के स्वप्न देखने लगा। नींद टूट जाने पर जब वह जगता तो उसे यह जान पड़ता, मानो वह अपने भाई के साथ बिछौने पर सोया हुआ है, परन्तु क्षणभर बाद ही होश में आने पर उसे ज्ञात होता कि भैया उसके पास नहीं हैं। जब वह घर पर रहता था, तब किसी-किसी दिन नींद के नशे में, रात्रि के समय, उसे यह अनुभव होता

था कि वसे जाड़ा लग रहा है और उसका भाई उसके शरीर पर धीरे२आपका कपड़ा उढ़ा रहा है, परन्तु यहाँ पूस की रात्रि में जब नींद के नशे में उसे जाड़ा लगने लगता, तब उसके मन में यही विचार आता था कि उसका शरीर ढकने के लिए भैया आ जाएँगे और इसीलिए जब कुछ देर हो जाती तो वह नाराज-सा हो उठता था। उसी समय नींद टूट जाने पर उसे यह ध्यान आता कि भैया उसके पास नहीं हैं इसके साथ उसे यह भी ध्यान आता कि इस शीत ऋतु में उसके शरीर पर कुछ वस्त्र न उढ़ा सकने के कारण, उसके भैया को अपने शून्य विस्तर पर चैन नहीं आ रहा है। तभी वह आधी रात के समय यह विचार करने लगता कि मैं सवेरे उठते ही अपने घर चला जाऊँगा। परन्तु जब सवेरा होता तो वह अपने मन को दृढ़ करते हुए यह निश्चय करता कि में अपनी प्रतिज्ञा का पालन किए बिना नहीं जाऊँगा। जब मैं अपनी पैदा की कमाई से बाईसिकिल खरीद लूँगा, तभी उस पर चढ़कर पहुँचूँगा, तभी में सच्चे अर्थों में पुरुष कहलाऊँगा और तभी मेरा नाम रसिक होगा।

एक दिन सरकस के मालिक ने उसे जुलाहा कहते हुए बड़े भद्दे ढङ्ग से गाली दी। रसिक उसी दिन अपने ऋण के बदले कपड़ा थाली लोटा आदि सब कुछ छोड़कर,वहाँ से बाहर निकल पड़ा। सारा दिन उसे बिना खाना खाए बीत गया। सन्ध्या के समय वह नदी किनारे जा पहुँचा और वहाँ गायों को आराम से घास चरते हुए देखकर, अनेकों प्रकार के विचार करने लगा। पशुओं के उस निश्चिन्त और सुखी जीवन को देखकर, उसे इर्ष्या हो उठी और वह सोचने लगा—यह पृथ्वी वास्तव में पशु-पक्षियों का ही भरण-पोषण करने वाली सच्ची माता है जो स्वयं अपने हाथ से उसके मुँह में आहार डाल देती है। मनुष्य तो इस पृथ्वी के मानो सौतेले लड़के हैं। इसीलिए पृथ्वी का यह बड़ा मैदान, उनके लिए सब ओर से धधकता हुआ-सा दिखाई पड़ता है। आज रसिक के लिए कहीं एक मुट्ठी अन्न भी उपलब्ध नहीं है।

रसिक ने नदी के तट पर जाकर अँजली से पेट भरकर पानी पीया और सोचने लगा—"इस नदी को भूख-प्यास नहीं लगती, न इसे कोई चिन्ता है, न कोई चेष्टा है, न कहीं इसका घेर है और न कहीं घर का अभाव ही

है। सामने से अँधेरी रात आ रही है, तो भी यह निरुद्देश्य, निरुद्वेग अपनी मस्ती में बहती चली जा रही है। इन्हीं सब बातों को सोचता हुआ वह टकटकी बाँधकर नदी की ओर देखता हुआ, वहीं बैठ गया। शायद, अब वह यह सोच रहा था कि इस असहनीय मानवजीवन को यदि इस बन्धन-हीन जलधारा के साथ मिला दिया जाए तो परम शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी।

ठीक उसी समय वहाँ एक युवक आ पहुँचा। उसने अपने माथे के ऊपर से लकड़ी का एक गट्ठर उतार कर पृथ्वी पर रक्खा और उसके समीप ही आ बैठा, तदुपरान्त उसने अपनी धोती से चेवड़ा की गठरी खोली और उन्हें पानी से भिगोकर खाने की तैयारी करने लगा। उस आदमी को देखकर रसिक को कोई नई बात मालूम हुई। उसके पाँव में जूते नहीं थे। वह धोती, कुर्त्ता और सिर पर पगड़ी पहने हुए था। साधारण दृष्टि से देखने पर यही ज्ञात होता था कि वह किसी भले आदमी का लड़का है, परन्तु साधारण मजदूर की भाँति बोझ ढोना उसने क्यों स्वीकार किया, इस बात को वह नहीं समझ सका।

दोनों में वार्तालाप तथा परिचय का आदान-प्रदान होने में अधिक देर नहीं लगी, जिसके फलस्वरूप रसिक को भी भीगे हुए चिवड़े का एक भाग खाने के लिए मिल गया। वह युवक कलकत्ते के किसी कालेज का विद्यार्थी था। वहाँ अन्य विद्यार्थियों ने स्वदेशी कपड़े की कुछ दूकानें खोली थीं। उन दुकानों के लिए कपड़ा खरीदने के निमित्त ही वह गाँव से बाजार में आया था। वह छात्र जाति का ब्राह्मण था और उसने अपना नाम सुबोध बताया। उसके मनमें किसी प्रकार का संकोच नहीं था और न कोई बाधा ही थी। सारे दिन बाजार में भ्रमण करने के बाद अब वह इस नदी-तट पर निश्चित भाव से चेवड़े खा रहा था।

उस युवक को देखकर रसिक को अपने सम्बन्ध में बहुत ही लज्जा अनुभव होने लगी। इतना ही नहीं, उसे ऐसा भी लगा मानो उसकी मुक्ति हो गई हो। इस प्रकार मस्तक पर बोझ उठाकर उसे साधारण मजदूर की भाँति ढोने में कोई आपत्ति नहीं है—यह जानकर उसके सामने क्षणभर में ही

जीवन-यात्रा का एक विस्तृत क्षेत्र फैल गया। उसने विचार किया—आज तो मुझे उपवास करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, मैं चाहता तो बोझा ढोकर अपना भोजन स्वयं प्राप्त कर सकता था।

सुबोध जब बोझा उठाकर चलने को हुआ, उस समय रसिक ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"इस बोझ को मैं ले चलूंगा।" जब सुबोध इस प्रस्ताव को सुनकर कुछ नाराज हुआ तो रसिक बोला—"मैं जुलाहे का लड़का हूँ, मैं आपका बोझ ढोने का काम करता रहूँगा। आप कृपा करके मुझे कलकत्ते ले चलिए।"

आज से पहिले 'मैं जुलाहा हूँ' यह बात रसिक के मुख से कभी नहीं निकली थी, परन्तु इस समय तो उसकी सम्पूर्ण बाधाएं मानो दूर हो गई थीं।

सुबोध रसिक की बात को सुनकर एक साथ उछल पड़ा। उसने कहा—"तुम जुलाहे हो? मैं तो किसी जुलाहे को ढूँढ़ने के लिए ही निकला था, लेकिन आजकल जुलाहों का भाव इतना ऊँचा हो गया है कि कोई भी हमारे करघों के स्कूल में चलकर शिक्षक बनने को तैयार नहीं होता।

अस्तु, रसिक करघे के स्कूल का अध्यापक बनकर, सुबोध के साथ कलकत्ते चला गया। परन्तु वहां बहुत दिनों तक अपना खर्च चलाने के बाद वह जो रुपया जमा कर सका, वह इतना नहीं हुआ था कि उससे बाईसिकिल-चक्र के लक्ष्य का भेदन किया जा सके। वधू की वरमाला का तो अभी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी समय करघे का स्कूल जैसा चमका था, वैसा ही अचानक बन्द होने की स्थिति में जा पहुँचा। समिति के बाबू लोग जिस समय मीटिंगों में बैठकर भाषण देते थे, उस समय तो बहुत अच्छा मालूम होता था; परन्तु जब क्रियात्मक कार्य का समय आता था, तो सब मामला गड़बड़ हो जाया करता था। उन लोगों ने अनेकों देशों से अनेकों प्रकार के करघे मँगाकर एक ऐसा बवाल खड़ा कर दिया था कि अब उस समूचे कारखाने को किस कूड़ेखाने में पटक दिया जाए, इसका निर्णय वे लोग बार-बार बैठकें बुलाने के उपरान्त भी न कर सके।

रसिक से अब और अधिक सहन न हो सका। उसका मन घर लौटने के लिए छटपटा उठा। उसे अपनी आँखों के सामने गाँव के भाँति-भाँति के चित्र दिखाई दिया करते थे। छोटी-छोटी तथा साधारण वस्तुएँ भी उसके सामने अपना विस्तृत रूप धारण कर प्रकट होने लगीं। पुरोहितजी का अर्ध-विक्षिप्त बालक, पड़ौसी का पीले रङ्ग का बछड़ा, नदी जाने वाले मार्ग पर दाहिनी ओर के ताड़-वृक्ष में उगा हुआ पीपल का पेड़—जिसे देखकर यह प्रतीत होता था मानो दो पहलवान परस्पर पेच लगाए खड़े हों, उन वृक्षों के नीचे ही बहुत पुराना एक खण्डहर, झील के तीनों ओर धान के खेत, एक ओर गहरे पानी में मछली पकड़ने का जाल बाँधने के लिए गाढ़ी गई बाँस की खूँठी तथा उसके ऊपर चुपचाप बैठा हुआ एक बगुला, मल्लाहों के मुहल्ले से सन्ध्या के बाद मैदान पार करके आने वाले कीर्तन की आवाज, विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की मिश्रित गन्ध से परिपूर्ण गाँव के छाया-मार्ग में भरी रहने वाली वायु, उसके साथ ही मित्रों का दल, चंचल गोपाल तथा अपने आँचल के कोने में पान बाँधे हुए तथा बड़ी-बड़ी आँखों को खोलकर उसकी ओर देखती हुई सौरभी—ये सभी चित्र रसिक की स्मृति में, चित्रों में, गन्ध में, शब्द में तथा स्नेह में व्याप्त होकर, उसके हृदय को क्षण-प्रति क्षण प्रभावित करने लगे।

उसे अनुभव होता—गाँव रहते समय उसकी प्रत्येक बातों में जिस चतुराई की प्रशंसा सब लोग किया करते थे, यहाँ आकर अब उसका कोई मूल्य नहीं रह गया है। यहां की दूकानों में रक्खी हुई मशीनों की बनी हुई चीजें हाथ की कारीगरी का उपहास करती हुई, उसे लज्जा में डाल देती हैं। करघे के स्कूल में काम करना भी काम की विडम्बना मात्र है। उसमें अब उसका मन बिल्कुल नहीं लगता। थियेटर की दीप-शिखा ने उसके हृदय को पतंगे की भाँति अपनी ओर आकर्षित कर लिया था तथा रुपया जमा करने की कठोर आकांक्षा ने ही उसे अन्य सब प्रलोभनों से बचा रक्खा है। आज सम्पूर्ण सृष्टि में उसके लिए गाँव जाने का मार्ग ही बन्द है। इसीलिए गाँव के पहुँचने का आश्वन उसे इस प्रकार पीड़ित कर रहा है। आरम्भ में उसे करघे

के स्कूल द्वारा सफलता की बहुत कुछ आशा हुई थी, परन्तु वह अब नहीं टिकती है। जब वह अपना दो मास का वेतन वसूल करने में असमर्थ रहा तो अपने आपको और अधिक स्थिर न रख सका। अन्त में सम्पूर्ण लज्जा को स्वीकार मस्तक झुका, एक वर्ष तक प्रवास-काल की निरर्थकता का अनुभव कर, अपने भैया के आश्रय में ही पहुँचने का विचार उसके मन में बार-बार आने लगा।

जिस समय उसका हृदय घर लौट चलने के लिए बार-बार कह रहा था; उसी समय उसके निवास स्थान के सम्मुख बड़ी धूम-धाम से एक विवाह हुआ। सन्ध्याकाल में बाजे-गाजे के साथ वर का आगमन हुआ। उसी रात्रि में रसिक ने यह स्वप्न देखा कि उसके मस्तक पर मौर बँधा हुआ है और वह गाँव की बासवारी की आड़ में खड़ा हुआ है। मौहल्ले के लड़के और लड़कियाँ सौरभी को तेरा वर आया है, कहकर चिढ़ा रही हैं और सौरभी उनसे परेशान होकर रो रही है। रसिक उन बालकों को धमकाने के लिए दौड़ता है, परन्तु उसका दुपट्टा बासवारी में फैल जाता और मौर डालियों में अटक कर रह जाता है। तब वह किसी प्रकार भी मार्ग ढूँढ़कर बाहर नहीं जा पाता।

इस स्वप्न को देखकर रसिक की आँख खुलीं तो उसे अपने मन में बहुत लज्जा मालूम होने लगी। उसने सोचा—उसके लिए बहू ठीक करके रक्खी जा चुकी है, परन्तु उसे अपने घर ले आने की योग्यता उसमें नहीं है। क्या उसकी पौरुषहीनता का यही सबसे बड़ा परिचय है? नहीं इतनी बड़ी हीनता को स्वीकार करके वह किसी भी प्रकार गाँव लौटकर नहीं जाएगा।

## ६

अनावृष्टि के कारण जब कभी सूखा पड़ जाती है, तब दिन-पर-दिन बीतते जाने पर भी बादलों के कहीं दर्शन नहीं होते। यदि कभी बादल दिखाई भी देते हैं तो उनसे वर्षा की आशा रखना व्यर्थ होता है और यदि वर्षा हो भी जाती है तो 'वह इतनी कम होती है कि उससे मिट्टी भी नहीं

भीग पाती, लेकिन इसके विपरीत जब वर्षा वास्तव में होने वाली होती है। तो दिगन्त के एक कोने से उठा हुआ बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा देखते ही देखते सम्पूर्ण आकाश पर अपना अधिकार जमा लेता है और वर्षा की झड़ी इस प्रकार लग जाती है कि सम्पूर्ण पृथ्वी पानी से भरकर डूबती-सी प्रतीत होती है। एक दिन अचानक ही रसिक के भाग्य में भी ऐसी ही घटना घटित हो गई।

जानकीनन्दन बहुत धनवान् व्यक्ति थे। एक दिन जब उन्होंने किसी से कोई समाचार सुना तो उसकी बग्गी करघे के स्कूल के सामने आकर खड़ी हो गई। उन्होंने स्कूल के मास्टरों के साथ दो-चार बातें कीं और उसके दूसरे दिन से ही रसिक अपने मेस का निवास छोड़कर नन्दीबाबू के विशाल तिमंजले मकान के एक कमरे में जाकर रहने लगा। जानकीनन्दन विलायत के एक बहुत बड़े कारखाने की ऐजेन्सी द्वारा बहुत बड़ा व्यापार चला रहे थे। वे अपने व्यापार में रसिक को एक साधारण कार्य के पद पर नियुक्त करके बहुत मोटा वेतन किसलिए देने लगे—यह बात रसिक की समझ में बिलकुल नहीं आई। रसिक जिस कार्य को यहाँ करता था, उस कार्य को करने के लिए आदमियों की कहीं कोई कमी न थी और फिर उसका इतना आदर-सत्कार करने की आवश्यकता तो बिल्कुल थी ही नहीं। बाजार में रसिक का कितना मूल्य है, इस बात को पिछले दिनों में वह भलीभांति समझ चुका था। अस्तु, जानकीबाबू द्वारा अपने मकान में उसे रखकर जब यत्नपूर्वक खिलाना-पिलाना और मोटी रकम देना आरम्भ किया गया तो वह इस आदर के मूल कारण को सुदूर आकाश के गृह-नक्षत्रों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर ढूंढ़ने पर भी नहीं पा सका।

परन्तु उसका शुभ-ग्रह कहीं अधिक दूर नहीं था। संक्षेप में उसका विवरण इस प्रकार है—

पहिले एक समय वह भी था, जब जानकीबाबू की स्थिति ऐसी नहीं थी। वे बहुत कष्ट उठाकर कालेज में पढ़ा करते थे। उनके सहपाठी तथा परम मित्र हरमोहन वसु के पिता पर एक अंग्रेज अफसर की विशेष कृपा रहती

थी। उसी ने उन्हें इस ऐजेन्सी के कार्य में लगा दिया था। तदुपरान्त हरमोहन ने अपने मित्र जानकी को गरीब देखकर अपना वह काम इन्हीं को सौंप दिया।

उस दरिद्रावस्था के नवीन-यौवन-काल में जानकीनन्दन का उत्साह सामाजिक संस्कारों के सम्बन्ध में हरिमोहन से तनिक भी कम नहीं था। इसीलिए उन्होंने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात अपनी वहिन का विवाह-सम्बन्ध छोड़कर, उसे बड़ी उम्र तक पढ़ाना स्वीकार किया। जब इस कारण जुलाहे-समाज में उनकी वहिन का विवाह असम्भव हो गया, तब हरमोहन ने जो जाति के कायस्थ थे, अपने मित्र जानकीनन्दन को इस संकट से निवारने के निमित्त, उनकी वहिन से विवाह करना स्वयं स्वीकार कर लिया।

उस घटना को वहुत समय वीत चुका है। हरिमोहन की मृत्यु हो चुकी है और उनकी वहिन भी काल के गाल में जा चुकी है। पूरा व्यापार भी जानकीनन्दन के हाथ में आ गया है। जिसके फलस्वरूप मामूली मकान के बाद उनका यह विशाल तिमंजिला मकान खड़ा हो गया है और उसमें पुरानी निकम्मी घड़ी के स्थान पर नई सुनहरी घड़ी लगी हुई टिकटिक किया करती है।

इस प्रकार उनकी आमदनी ज्यों-ज्यों वढ़ती गई त्यों-त्यों अल्पायु की दरिद्रावस्था का उत्साह उन्हें बिल्कुल लड़कपन-सा प्रतीत होने लगा। तव उनके चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि किसी प्रकार अपने पूर्व पारिवारिक इतिहास के अध्याय को वन्द कर, समाज में उठने के लिए नए अध्याय का श्रीगणेश किया जाए। उन्होंने यह निश्चय करने के उपरान्त इस वात की जिद पकड़ ली कि अब वे अपनी लड़की का विवाह अपने समाज में करेंगे। रुपये पैसे का लोभ दिखाकर दो-एक सजातीय लड़कों को उन्होंने इसके लिए तैयार भी किया, परन्तु जब उन लड़कों के आत्मीयजनों को यह वृतान्त मालूम हुआ, तब उन्होंने हो-हल्ला मचाकर, वह सम्वन्ध ही नहीं होने दिया। यह देखकर जानकीनन्दन वावू ने दूसरा विकल्प सोचा—'यदि शिक्षित और योग्य लड़का न मिले तो भी कोई वात नहीं है। कन्या के

सम्पूर्ण जीवन का सुख भले ही बलिदान करना पड़े, परन्तु समाज-देवता के प्रसाद को प्राप्त किए बिना अब वे नहीं पड़ेंगे।'

इसी बीच उन्हें करघे के स्कूल में आए हुए नए मास्टर के सम्बन्ध में समाचार प्राप्त हुआ। उन्होंने सुना, 'वह मास्टर थानागढ़ के बसाक वंश का लड़का है। उसके पूर्वज अभिराम बसाक का नाम कौन नहीं जानता? यद्यपि अब उनकी आर्थिक अवस्था गिर गई है, परन्तु वंश की मर्यादा में वे उनसे बहुत ऊँचे हैं।'

गृहिणी ने लड़के को दूर से देख कर ही पसन्द कर लिया। तदुपरांत उन्होंने पति से पूछा—"लड़का कहाँ तक पढ़ा लिखा है?"

जानकीबाबू ने उत्तर देते हुए कहा—"यह सब कुछ झमेला नहीं है। आजकल जो लड़के अधिक पढ़-लिख जाते हैं, उनका हिन्दुत्वके आचार-विचार पर स्थिर रहना कठिन हो जाता है।"

गृहिणी ने पूछा—"और रुपया-पैसा?"

जानकीबाबू बोले—"उसका भी खूब अभाव है। मेरे लिए यहाँ सबसे बड़ा लाभ है।"

गृहिणी बोली—"आत्मीय स्वजनों को तो बुलाना ही पड़ेगा?"

जानकीबाबू ने उत्तर दिया—"पहिले अनेकों बार इस बात की परीक्षा की जा चुकी है कि आत्मीय स्वजनों ने आ-आकर विवाह नहीं होने दिया। अस्तु, इस बार मैंने यह निश्चय कर लिया है कि पहिले विवाह कर दूँगा, तदुपरांत समयानुसार आत्मीय स्वजनों से मधुर आलाप कर लिया जाएगा।"

जिन दिनों रसिक अपने गांव लौटने की चिन्ता में दिन-रात डूबा हुआ था और रुपया जमा करने के उपाय रूपी समुद्र का कोई कूल किनारा नहीं पा रहा था, उसी समय उसके मुँह के सामने आहार तथा औषधि दोनों ही आ उपस्थित हुए। तब स्वीकार करने में उसे एक क्षण की भी देर नहीं लगी।

जानकीबाबू बोले—"तुम अपने भैया को समाचार देना चाहते हो?"

रसिक ने उत्तर दिया—"नहीं, अभी इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

उसका विचार था कि सब कार्यों को समाप्त करने के बाद वह भैया को आश्चर्य में डालकर यह प्रमाणित कर देगा कि उनके निकम्मे रसिक में कितनी सामर्थ्य है।

शुभ-लग्न में रसिक का विवाह-कार्य सम्पन्न हो गया। अन्य प्रकार की दान-सामग्रियों से पूर्व ही रसिक ने एक बाइसिकिल की माँग की—इसे कहने की आवश्यकता नहीं है।

## ७

माघ का महीना व्यतीत हो चुका है। सरसों और तीसी के फूलों से खेत सब ओर भर गए हैं। ईख के रस को भट्टी में पकाकर गुड़ तैयार करने का कार्य भी आरम्भ हो चुका है। उसकी गन्ध से मानो वायु भी गाढ़ी हो उठी है। प्रत्येक घर में धान और उड़द भरे हुए हैं। गौशाला के सम्मुख आँगन में पुआल के ढेर लग रहे हैं। नदी के उस पार बालू में अपने डेरे डाले हुए चरवाहे गाय-भैंसों के साथ ठहरे हुए हैं, नदी के घाट का काम बन्द हो चुका है और पानी सूख जाने के कारण सब लोग अपने कपड़ों को कुछ ऊँचा उठाकर चलने से ही नदी को आसानी से पार कर लेते हैं।

रसिक ने कालरदार कमीज पहनकर, ढाके की धोती को पहना। कमीज के ऊपर काला कोट सुशोभित हो रहा था। पैरों में रंगीन पूरे मोजे और काले चमड़े के बढ़िया जूते थे। वह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की पक्की सड़क पर खूब तेजी के साथ साइकिल दौड़ाता हुआ चला, परन्तु गांव के कच्चे मार्ग पर उसे अपनी साइकिल का वेग धीमा कर देना आवश्यक हो गया।

गांव के लोगों ने उसे जब वेशभूषा में देखा तो वे सहसा उसे पहिचान ही न सके। उनमें से किसी के साथ भी रसिक ने बातचीत नहीं की। उसकी इच्छा थी कि अन्य लोगों के पहिचानने-जानने से पूर्व ही वह अपने भैया के पास पहुँच कर उससे भेंट करे। परन्तु जब वह अपने मकान के समीप पहुँचा तो बालकाल के साथी लड़कों की दृष्टि से अपने को न बचा सका। क्षण भर

में ही वे लोग उसे पहिचान गए सौरभी का मकान भी समीप ही था। सब लड़के उसी ओर दौड़ते हुए। चिल्लाने लगे—"सैरी बहिन का वर आ गया, सैरी बहन का वर आ गया।" गोपाल उस समय घर पर ही था। जब उसने यह आवाज सुनी वह बाहर निकल कर आ गया। तभी रसिक की बाइसिकिल अपने मकान के सामने पहुँच कर रुक गई।

उस समय सन्ध्याकाल का अन्धेरा मन्द-गति से अपना प्रभाव बढ़ाता चला जा रहा था। मकान के भीतर अन्धेरा था और बाहर से ताला लगा हुआ था। उस जनहीन, परित्यक्त मकान से एक रोदन का मौन-स्वर उठता हुआ मानो यह कह रहा था—"यहाँ कोई नहीं है।" क्षणभर में ही रसिक का हृदय घबरा उठा और उसकी आँखों के सामने अन्धेरा छा गया। पैर काँपने लगे। तब वह बन्द किवाड़ों को पकड़ कर चुपचाप खड़ा हो गया। उसका गला सूख रहा था। अस्तु, वह किसी को पुकार भी न सका। दूर मन्दिर से सन्ध्या आरती के घड़ी-घन्टों की जो ध्वनि आ रही थी, वह ऐसी प्रतीत होती थी—मानो किसी के विगत-जीवन की विदाई की आवाज हो। सामने दिखाई देने वाली वस्तुएँ, मिट्टी की दीवाल, फूँस का छप्पर, बन्द दरवाजा और खजूर का झुका हुआ पेड़, यह सब मानो एक खोए संसार के चित्रमात्र थे, जिनमें सत्य का कुछ भी लेश नहीं था।

उसी समय गोपाल रसिक के समीप आकर खड़ा हो गया। रसिक ने अपने पीले चेहरे से गोपाल के मुँह की ओर देखा, परन्तु गोपाल ने कोई उत्तर न देकर अपनी आँखें नीचे की ओर झुका लीं। रसिक के मुँह से निकला—"मैं समझ गया, समझ गया। भैया अब नहीं रहे।" इतना कह कर वह उस दरवाजे के पास ही बैठ गया। गोपाल भी कुछ देर उसी के पास बैठा रहा। फिर बोला—"रसिक भैया! तुम हमारे घर चलो।" परन्तु रसिक उसकी बात पर कोई ध्यान न देता हुआ, अब की बार उसी दरवाजे के सामने पृथ्वी पर लेट गया और जोर-जोर से चिल्ला उठा—"भैया, भैया, भैया! तुम कहाँ हो?"

जो भैया उस रसिक के पाँव की आहट सुनते ही दौड़ा चला आता था आज उसकी कहीं भी कोई आहट नहीं हुई।

गोपाल के पिता ने आकर रसिक को बहुत कुछ समझाया-बुझाया, फिर उसे अपने घर ले गया। वहाँ मकान में घुसते ही रसिक ने देखा कि सौरभी उसकी विचित्र कथरी से ढकी हुई किसी वस्तु को दीवाल के सहारे रख रही है। आँगन में लोगों की आवाज सुनते ही वह दौड़ती हुई भीतर के कमरे में चली गई। रसिक उस वस्तु के समीप पहुँचते ही समझ गया कि वह कथरी से ढकी हुई एक नई वाईसिकल है। उसका तात्पर्य समझने में अधिक देर न लगी। हृदय को विदीर्ण करने वाली रुलाई भीतर ही भीतर चक्कर लगाती, उसके कण्ठ तक आ पहुँची, परन्तु आँसुओं का मार्ग भी उसी समय बन्द हो उठा।

रसिक के घर से रूठ कर चले जाने के उपरान्त वंशी ने दिनरात परिश्रम करके अपने भाई का सौरभी के साथ विवाह करने का खर्च और वाईसिकिल खरीदने के लिए रुपया इकट्ठा किया था। पलभर के लिए उसे किसी अन्य बात की चिन्ता नहीं रही। जिस प्रकार थका हुआ घोड़ा अपनी जान हथेली पर लेता हुआ, दौड़ता हुआ चलता है और गन्तव्य-स्थान पर पहुँचते ही गिरकर मर जाता है, उसी प्रकार विवाह का रुपया जुटा लेने के पश्चात् जिस दिन डाक द्वारा वंशी को वाईसिकिल की वी० पी० मिली, उसी दिन से उसका हाथ चलना बन्द हो गया। करघा बन्द हो जाने पर उसने गोपाल के पिता को अपने पास बुलाया और हाथ पकड़कर इस प्रकार कहा—"तुम रसिक के लिए एक वर्ष तक और प्रतीक्षा करना। मैं यह रुपया तुम्हें दिए जाता हूँ। जिस दिन रसिक लौटकर आ जाए, उस दिन तुम उसे यह वाईसिकिल देने के पश्चात् कहना—"तुमने भैया से जिस दिन इस वस्तु की माँग की थी, उस दिन अभागा भैया तुम्हें यह चीजें न दे सका था, परन्तु इसके लिए तुम उसके ऊपर अपने मन में कोई क्रोध मत करना।"

भैया से रुपया न लेने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् एक दिन रसिक उसे छोड़कर चला गया। विधाता ने उसकी कठोर शपथ को सुन लिया था। आज जब रसिक फिर घर लौटकर आया तो उसने देखा कि भैया का उपहार इतने दिनों से उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, परन्तु अब उसे ग्रहण करने का

मार्ग बन्द हो चुका है। उसके भैया जिस करघे पर अपना सम्पूर्ण जीवन बुनकर, अपने भाई के लिए दान कर गए हैं, उसी करघे के पास सब कुछ त्याग कर, अपने प्राण न्यौछावर कर देने की इच्छा रसिक के मन में बारंबार होने लगी, परन्तु अब वह तो कलकत्ता नगर में, रुपए के जाल में, अपना सम्पूर्ण जीवन चिरकाल के लिए बलि चढ़ा चुका है।

# वाणी

बूँद-बूँद वर्षा के रूप में नभ के मेघ पृथ्वी पर उतरते हैं—पृथ्वी को पकड़ाई देने के लिए। इसी प्रकार पृथ्वी पर बन्धनयुक्त होने के लिए कहीं से स्त्रियाँ आती हैं।

उनके लिए, थोड़े से मनुष्यों का, कम स्थान का, संकुचित संसार है। उनकी अपनी सब बातें, सब व्यथाएँ, सब चिन्ताएँ तथा अपवा सब कुछ उतने ही में समा जाना चाहिए। इसीलिए उनके सिर पर घूँघट है, बाँहों में कङ्कण है, घर में आँगन का घेरा है। स्त्रियाँ सीमा वर्ग की इन्द्राणी हैं। भला, किस देवता के कौतुक-हास्य की तरह अपार-चंचलता लिए हुए हमारे मौहल्ले में उस लड़की ने जन्म लिया। माँ उसे क्रोध में डायन कहती है और पिता उसे हँस कर पगली कहता है।

वह प्रवाहित झरने के जल के समान है। शासन के कङ्कड़-पत्थरों को लाँघ-लाँघ कर चलती है। उसका हृदय मानो वेणु-वृक्ष की ऊपर की डाली का सदैव फर-फर काँपने वाला पत्ता है।

२

आज देखो तो वह अशान्त लड़की वर्षा-मेंघ के इन्द्र धनुष की भाँति छज्जे की रेलिङ्ग पर चुपचाप खड़ी है। उसकी बड़ी-बड़ी दो काली आँखें आज तमालवृक्ष की डाली पर मेह से भीगी चिड़िया की तरह अचंचल हैं।

उसे इतना स्थिर कभी नहीं देखा। ज्ञात होता है, सरिता चलते-चलते एक ही स्थान पर ठहर कर सरोवर बन गई है।

३

कुछ समय पूर्व प्रखर धूप का शासन था।

दिगन्त का चेहरा फीका पड़ गया था, वृक्ष के पत्ते सूखी हल्दी से, हतश्वास हो गए थे।

इतने में सहसा बिखरे हुए काले मेघ गगन के एक कोने में तम्बू गाढ़ कर जम गए। तभी मानो सूर्यास्त की एक लाख किरण, म्यान के अन्दर से तलवार की भांति निकल पड़ीं।

अर्द्ध रात्रि को देखा तो द्वार खड़खड़ाहट करते हुए काँप रहे हैं। आगे की प्रचण्ड वायु ने सारे शहर के घूँघट की चोटी पकड़कर झकझोर डाला।

जब नीचे उठकर देखा तो गली की बत्ती घनघोर वर्षा में शराब की नशीली आँखों के समान दिखाई दी तथा गिरजे की घड़ी का शब्द मानो वर्षा के शब्द की चादर ओढ़ कर आ धमका। प्रातः जल की धारा और भी तेज हो गई, उसने धूप को उठने ही नहीं दिया।

४

हमारे मोहल्ले की लड़की, ऐसी बदली में छज्जे पर रेलिंग पकड़े हुए चुपचाप खड़ी है। उसकी बहिन ने उससे आकर कहा—"माँ बुलाती है।" उसने केवल अपना सिर हिलाया जिससे उसकी वेणी हिल उठी। तभी उसका भाई हाथ में कागज की नाव लिए हुए आया। वह बहिन का हाथ पकड़कर खींचने लगा। उसने एक झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया। फिर भी उसका भाई खेलने के लिए मचलने लगा तो उसने भाई के गाल पर एक चाँटा मार दिया।

५

वर्षा हो रही है अन्धकार और भी घना हो उठा। परन्तु लड़की उसी प्रकार खड़ी रही। आदि युग में वह हवा के कण्ठ से, जल की भाषा में, सृष्टि के मुँह से पहली बार निकली थी। आज लाखों करोड़ों वर्ष

पश्चात् उस स्मरणी-विस्मरण की अतीत बात ने वर्षा-मेघ के कल-स्वर में उस लड़की को आकर पुकारा। इसीलिए आज वह समस्त सीमाओं को पार कर खो गई है।

कितना बड़ा समय है, कितना बड़ा विश्व है, पृथ्वी में कितने युगों की कितनी जीव-लीलाएँ हैं। उस सुदूर ने, उस विराट ने, आज बादलों की छाया में, वर्षा के कल-कल शब्द में, इस लड़की के मुख की ओर देखा।

इसीलिए वह अपने बड़े-बड़े नेत्रों को खोलकर अनन्तकाल की प्रतिमा के समान निस्तब्ध खड़ी है।

# समस्या का अन्त

झिकड़ा कोटे के कृष्णगोपाल सरकार अपने बड़े पुत्र को जमीदारी एवं कुटुम्ब का भार सौंप कर काशी चले गए। गांव में जितने भी अनाथ गरीब लोग थे, वे सब उनके लिए रोने लगे। ऐसे दानी और धर्मात्मा पृथ्वी पर बहुत ही कम हैं—सब यही बात कहने लगे।

उनके पुत्र विपिनबिहारी ने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है। वे दाढ़ी रखते हैं, चश्मा लगाते हैं तथा किसी से अधिक मिलते-जुलते भी नहीं हैं। वे वास्तव में सच्चरित्र हैं। यहाँ तक कि तम्बाकू भी नहीं पीते, ताश भी नहीं खेलते। उनकी आकृति अत्यन्त बड़े लोगों जैसी है, परन्तु स्वभाव बहुत कठोर है।

उनकी प्रजा ने यह अनुभव किया कि वृद्ध जमीदार को किसी प्रकार भुलावा दिया जा सकता था, परन्तु इनके पास, किसी बहाने से भी, लगान का एक पैसा भी माफ होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। नियत किए हुए दिन, एक दिन इधर-उधर नहीं किए जा सकते।

विपिनबिहारी ने जमीदारी का काम सँभाल कर देखा कि उनके पिता ने बहुत से ब्राह्मणों को बिना लगान के भूमि दे रक्खी है तथा बहुत से लोगों का लगान कम कर दिया है, उसका कोई हिसाब-किताब नहीं है। उनका यह स्वभाव था कि यदि कोई उनके पास किसी चीज की प्रार्थना करता तो वे उसे वह वस्तु दिए बिना निराश नहीं लौटाते थे।

विपिनबिहारी ने कहा—"यह सम्भव है, मैं अपनी आधी जमीदारी खैरात पर नहीं छोड़ सकता।" उनके हृदय में दो युक्तियाँ उत्पन्न हुईं।

पहली बात यह कि जो लोग बेकारों की तरह घर पर बैठ कर जमीन का उपभोग करके अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वे दया के पात्र नहीं हैं। ऐसा दान देने में केवल आलस्य को ही आश्रय देना होता है।

दूसरी बात यह है कि उनके पिता-पितामह के समय की अपेक्षा आजकल जीविका बहुत ही कठिन हो चुकी है। अभावों में वृद्धि हो गई है। आजकल भद्रभाव से अपना सम्मान बचाकर चलने में पहले से चौगुना व्यय पड़ता है। अतः उनके पिता ने जिस प्रकार निश्चिन्त होकर दोनों हाथों से लुटाया है, वैसा अब किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। अब तो गई हुई वस्तुओं को लौटाने का प्रयत्न करना ही कर्तव्य है। अस्तु, वे वही करने लगे, जो उनसे कर्तव्य-बुद्धि ने कहा। वे एक सिद्धान्त बनाकर चलने लगे।

एक प्रकार घर से जो निकल चुका था, वह धीरे-धीरे लौटने लगा। उन्होंने पिता के बहुत थोड़े दान को ही सीमित रक्खा तथा जो रक्खा, उसकी भी उन्होंने यह व्यवस्था कर दी कि वह भी चिरस्थाई दान का रूप ग्रहण न करे।

कृष्णगोपाल काशी में रहकर पत्रों द्वारा प्रजा की दुःखी आवाज सुन रहे थे। कोई-कोई काशी में उनके पास जाकर रोने लग जाते। तब कृष्ण गोपाल ने अपने पुत्र को पत्र लिखा कि यह काम उचित नहीं है।

विपिनविहारी ने उत्तर दिया—"पहिले जिस प्रकार दान किया जा सकता था, उसी प्रकार ऊपर की आय भी कई प्रकार से होती थी। उस समय जमींदार एवं प्रजा के बीच दान-प्रतिदान का सम्बन्ध था। परन्तु आजकल नए कानूनों के अनुसार प्रजा से केवल लगान को छोड़कर और कुछ नहीं लिया जा सकता। अतः आजकल के समय में मैं अपनी आय की ओर अधिक ध्यान न दूँ तो क्या शेष रहेगा? अब मुझे प्रजा इसके अतिरिक्त कुछ नहीं देगी और मैं भी प्रजा को अतिरिक्त कुछ नहीं दूँगा। अब हम लोगों में केवल लेनदेन का हिसाब ही शेष रह गया है। दान करते रहने पर भिखारी बन जाना पड़ेगा। सम्पत्ति की रक्षा तथा कुल की मर्यादा की रक्षा करना, इस प्रकार कठिन हो जाएगा।"

कृष्णगोपाल इस परिवर्तनशील समय को देखकर अत्यन्त चिन्तित होकर सोचते—हमारा पुराना कानून अब नहीं चलेगा, आजकल के लड़के, आजकल के उपयुक्त काम कर रहे हैं। यदि मैं दूर बैठा उनके काम में हस्त-क्षेप करूँगा तो वे कहेंगे—'तुम्हारी सम्पत्ति तुम सम्हालो। हम इसे संभालने में असमर्थ हैं। तब मुझे क्या आवश्यकता है? जीवन के शेष दिन हरिनाम जप करके व्यतीत हो जाएँगे यही बहुत कुछ है।'

२

इस प्रकार बहुत से मामले-मुकद्दमों के पश्चात् विपिनविहारी ने समस्त जमीदारी अपने अधीन कर ली। बहुत से लोग भय के कारण ही विपिनबाबू को मानने लगे, परन्तु मिर्जा बीबी का पुत्र अछिमद्धि विश्वास किसी प्रकार भी विपिनबाबू को नहीं मानता था।

विपिनविहारी का उसी पर आक्रोश भी अधिक था। ब्राह्मण के ब्रह्मत्व का एक अर्थ होता है, परन्तु यह मुसलमान-सन्तान किस तरह इतनी सम्पत्ति का भोग कर रहा है? एक साधारण मुसलमान गाँव की पाठ-शाला में यदि थोड़ा लिखना-पढ़ना सीख गया है तो किसी की परवाह नहीं करता है?

विपिनविहारी को अपने पुराने कर्मचारियों से मालूम हुआ कि बड़े जमीदार के समय से ही येउनके कृपापात्र हैं, परन्तु इस कृपाका विशेष कारण वे नहीं समझा सके। हो सकता है, विधवा ने अपना दुखड़ा सुनाकर जमीदार को मोहित कर लिया हो।

परन्तु, विपिनबिहारी इस कृपा को अनुचित समझते थे। विपिन ने इनकी दरिद्र-दशा अधिक नहीं देखी थी, परन्तु अब इनकी स्वच्छन्दता देखकर यह सोचने लगते कि इन्होंने उनके वृद्ध पिता को ठग लिया है।

अछिमद्धि उद्धत प्रकृति का युवक था। उसने कहा—"प्राण चले जाने पर भी मैं अपना अधिकार एक तिल भी नहीं छोड़ूँगा।"

अछिमद्धि की माँ ने उसे बार-बार समझाया—"इतने समय तक हम जिनकी कृपा पर जीवित रहे हैं, उनसे बैर करना उचित नहीं है, अपितु उनकी

कृपा पर रहना ही उचित है। जब जमीदार कह रहे हैं तो थोड़ा-सा अधिकार छोड़ देने में कोई हानि नहीं है।'

अछिमद्धि बोला—"माँ, तुम यह सब नहीं समझ सकोगी।"

अछिमद्धि की मुकद्दमे में धीरे-धीरे हार होने लगी, परन्तु हार के साथ-साथ ही उसकी जिद्द भी बढ़ती जा रही थी। अपने हठ के लिए उसने सबकुछ व्यय करने का प्रण कर लिया था।

एक दिन शाम को मिर्जा बीबी अपने बगीचे से कुछ साग-सब्जी लेकर छिपकर विपिनविहारी से मिलने गईं। मानो अपनी करुणामयी दृष्टि द्वारा विपिनविहारी के शरीर पर हाथ फेर कर बोलीं—"बेटा! अल्लाह तुम्हारा भला के। अछिमद्धि का अहित मत करो, यह तुम्हारा धर्म नहीं है। मैं उसे तुम्हारे ही हाथों में सौंपती हूँ। तुम उसे सिर्फ पालने योग्य एक बेकार छोटे भाई की तरह ग्रहण करो। उसे तुम्हारे समीप ऐश्वर्य का एक कण मिला है, इसी से तुम उस पर नाराज मत होना।"

विपिन को वृद्धा की ये बातें अच्छी नहीं लगीं। वे बोले—"तुम यह सब नहीं समझ सकोगी; क्योंकि तुम स्त्री हो। यदि कुछ कहना चाहती हो तो अपने बेटे को भेज देना।"

मिर्जा बीबी ने अपने बेटे से भी यही सुना कि वह इस विषय में कुछ नहीं जानती हैं। तब अल्लाह का नाम लेती हुई, विधवा निराश होकर आंखें पोंछती रह गई।

३

मुकद्दमा फौजदारी कोर्ट से दीवानी कोर्ट, जिले की अदालत से हाई-कोर्ट तक चला और डेढ़ वर्ष तक चलता रहा। अछिमद्धि जब ऋण के बोझ से दब गया, तब अदालत में उसकी आंशिक विजय हुई। परन्तु बाघ के मुँह से वह जितना बचा पाया, पानी के मगर ने उसे छीन लिया। कर्जदारों ने डिगरी जारी कर दी और अजिमद्धि की समस्त नीलाम होने की तारीख नियत हो गई।

सोमवार का दिन था । नदी के किनारे पर बाजार लगता था। बरसाती नदी भरी हुई है । कुछ लोग नाव द्वारा, कुछ लोग पैदल, बाजार में लेन-देन कर रहे हैं । आषाढ़ मास में कटहल काफी आया है । आकाश में बादल छाए हुए हैं । बहुत से लोगों ने वर्षा संभावना देख कर डण्डे गाढ़ कर, उन पर कपड़ा बाँध दिया है । अछिमद्धिभी बाजार करने आयाहै, परन्तु उसके पास एक पैसा भी नहीं है । आजकल उसे कोई उधार भी नहीं देता। वह एक कटोरी और एक पीतल की थाली वन्धक रखकर कुछ उधार लेने आया है ।

शाम को विपिनबाबू घूमने के लिए निकले । साथ में दो-तीन लठैत भी थे । लोगों की आवाज से आकर्षित होकर उनकी इच्छा बाजार देखने को हुई ।

बाजार के अन्दर पहुँचकर विपिनबाबू कल्लू से उसके आय-व्यय का हिसाब पूछ रहे थे, उसी समय अछिमद्धि कटोरी उठाकर शेर की भाँति गरजता हुआ विपिनबाबू की ओर दौड़ पड़ा । हाट के लोगों ने उसे बीच में ही पकड़ लिया। तदुपरांत उसे शीघ्र ही पुलिस के हाथ सौंप दिया गया। बाजार में पुनः पहिले की तरह लेन-देन चलने लगा ।

विपिनबाबू को इस घटना से प्रसन्नता नहीं हुई, ऐसी बात नहीं थी । हम जिसका शिकार करना चाहते हैं, वही यदि पंजा उठाकर मारने लगे तो उसका यह बेजा और बेअदबी किसी प्रकार भी सहन नहीं की जा सकती । जो भी हो, जैसा कर्म—वैसा फल । विपिन के अन्तःपुर की स्त्रियाँ आज की इस दुर्घटना को सुनकर कहने लगीं—"अरी माँ, कितना हरामजादा, कितना दुष्ट है ।"

फिर उसके उचित दण्ड की सम्भावना से उनके हृदय को शान्ति मिली ।

इधर सन्ध्या के समय विधवा के अन्न-रहित पुत्र-हीन गृह में मृत्यु की अपेक्षा घोर अन्धकार छाया हुआ था । सब लोग इस घटना को भूल गए । केवल एक वृद्धा के समीप ही दुनियाँ की सारी घटनाओं में आज की घटना बहुत बड़ी घटना हो उठी । परन्तु इसके साथ सामना करने के लिए सारी

पृथ्वी पर उसका अपना कोई नहीं है, केवल दीप-रहित कुटीर के प्रान्त पर जीर्णअस्थि तथा एक हत-श्वासभीत हृदय था।

४

इस प्रकार तीन दिन कट गए। कल डिप्टी मजिस्ट्रेट की अदालत में विचार का दिन है। विपिन को भी गवाही देने के लिए अदालत में जाना पड़ेगा। इससे पूर्व जमींदार को कभी भी वहाँ जाना नहीं पड़ता था। परन्तु विपिन को इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरे दिन नियत समय पर पगड़ी बाँधकर, घड़ी की चैन झुलाते हुए, पालकी पर सवार होकर, विपिनबाबू अदालत में गवाही देने गए। अदालत भीड़ से खचाखच भरी थी। ऐसा मामला बहुत दिनों से अदालत में पेश नहीं हुआ था।

मुकद्दमे की सुनवाई में अधिक देर न थी, तभी एक लठैत ने आकर विपिनबाबू के कान में कुछ कहा—वे उठकर बाहर चले गए।

उन्होंने बाहर आकर देखा। कुछ दूर पर वटवृक्ष के नीचे उनके वृद्ध पिता खड़े हैं। नंगे पैर, शरीर पर नामावली अङ्कित एक चद्दर, हाथ में हरिनाम की माला और कमजोर शरीर—मानो स्निग्ध ज्योतिर्मय हैं। उनके भाल से एक शान्त-करुणा विश्व में अवतीर्ण हो रही थी।

कोट-पतलूनधारी विपिन ने बड़े कष्ट से अपने पिता को प्रणाम किया, इससे उनकी पगड़ी नीचे की ओर सरक आई और घड़ी जेब से निकल कर बाहर आ गई। उन्हें शीघ्रता से ठीक करते हुए, उन्होंने पिता को पास ही एक वकील के कमरे में चलने के लिए कहा।

कृष्णगोपाल ने कहा—"नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वहीं कहूँगा।"

विपिन के लठैतों ने कौतूहली लोगों की भीड़ को अलग कर दिया।

कृष्णगोपाल बोले—"अछिमद्धि को जिस उपाय से मुक्ति मिले, उसकी तुम्हें उचित व्यवस्था करनी होगी तथा तुमने जो उसकी सम्पत्ति छीनी है, वह उसे वापिस कर देना।"

विपिन ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"आप काशी से इतनी दूर, इसीलिल आए हैं ? उस पर आपका इतना अनुग्रह किसलिए है ?"

कृष्णगोपाल ने कहा—तुम्हें यह सुनकर क्या लाभ होगा ?"

विपिन वोले—"मैंने अयोग्यता का विचार करके वहुतों का दान लौटा लिया है। उनमें वहुत से ब्राह्मण भी थे। परन्तु आपने उनमें से किसी के लिए हस्तक्षेप नहीं किया। आज इस सामान्य यवन सन्तान के लिए इतना कष्ट क्यों ? इतना करने के पश्चात् यदि अछिमद्धि को सारी सम्पत्ति लौटा देनी पड़े तो लोग क्या सोचेंगे ?"

कृष्णगोपाल यह सुनकर कुछ देर तक शान्त रहे। अन्त में काँपती हुई उङ्गलियों से माला फेरते हुए वोले—"यदि तुम लोगों से सव कुछ साफ कहना चाहते हो तो कह देना कि अछिमद्धि मेरा पुत्र तथा तुम्हारा भाई लगता है।"

विपिन ने चौंककर कहा—"यवन के गर्भ से ?"

कृष्णगोपाल ने उत्तर दिया—"हाँ !"

विपिन वहुत देर तक निस्तब्ध खड़े रहे। कुछ समय वाद फिर वोले—"पहिले आप घर चलिए, यह सव वातें पीछे होंगी।"

कृष्णगोपाल ने कहा—"नहीं, मैं अव घर में पैर नहीं रक्खूँगा। मैं यहाँ से लौटकर जा रहा हूँ। अव तुम धर्मानुसार जो उचित समझो, करो।"

यह कह आशीर्वाद देकर कृष्णगोपाल वहाँ से चले गए।

विपिन की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे, क्या करे ? वे चुपचाप खड़े रहे, परन्तु उनके हृदय में इतना विचार अवश्य उदय हुआ कि उस काल की धर्मनिष्ठा ऐसी ही थी ? वे शिक्षा एवं चरित्र में अपने को पिता से वहुत ऊँचा समझ रहे थे। अव उन्होंने निश्चय कर लिया कि यह सव एक सिद्धान्त न रहने का ही परिणाम है।

वहाँ से जव वे अदालत में लौटकर आए तो देखा—क्षीण काय, शुष्क श्वेत अधर तथा दीप्त-नेत्र अछिमद्धि पहरेदारों के वीच खड़ा है। वह विपिन का भाई है।

डिप्टी मजिस्ट्रेट विपिन का मित्र था। अतः मुकद्दमा एक प्रकार की खिचड़ी पकाकर समाप्त हो गया। अछिमद्धि की भी थोड़े ही दिनों में पहिले की सी हालत हो गई। परन्तु इसका कारण नहीं समझ सका। अन्य लोग भी आश्चर्य में थे।

मुकद्दमे के समय कृष्णगोपाल आए थे, यह बात सब लोग जान गए। सब लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। कुशल वकील सब मामला समझ गए। कृष्णगोपाल ने रामशरण वकील को अपने पैसों से लिखाया-पढ़ाया था। वह सदैव सन्देह करता रहता था, परन्तु इतने दिनों के बाद वह पूर्ण-रूप से जान सका कि अच्छी प्रकार ढूँढ़ने से सभी साधु पकड़े जा सकते हैं। दुनियाँ में साधु और असाधुओं में केवल इतना ही अन्तर है कि साधु कपटी होते हैं और असाधु निष्कपट। जो भी हो कृष्णगोपाल की जगत-प्रसिद्ध दया धर्म तथा महत्व केवल कपट था—यह सोचकर रामशरण की एक कठिन समस्या का समाधान हुआ तथा न जाने किस युक्ति के अनुसार कृतज्ञता का बोझ भी मानो उसके कन्धों से उतर गया।

# पड़ोसिन

मेरी बाल-विधवा पड़ोसिन की समानता सरद् ऋतु के ओस से भीगे हुए डण्ठल से गिरे हारसिंगार से की जा सकती है। वह सुहागरात के फूलों की शैया के लिए नहीं है, केवल देवता की पूजा की लिए ही है।

मैं उसकी पूजा मन-ही-मन किया करता था। उसके लिए मेरे हृदय का भाव कैसा था, उसे मैं पूजा के सिवाय अन्य किसी भाषा में प्रकट नहीं करना चाहता, दूसरों के सामने तो बिल्कुल ही नहीं, अपने लिए भी नहीं।

नवीन मेरा परम मित्र है। इस विषय में उसे भी कुछ नहीं मालूम, तथा इसी प्रकार मैंने अपने जिस गम्भीर आवेग को छिपाकर स्वच्छ बनाए रक्खा था, उसका भी उसे कोई पता न था। मैं इसके लिए भीतर-ही-भीतर गर्व का अनुभव किया करता था।

परन्तु हृदय का वेग पर्वती नदी के समान अपने जन्म-शिखर में बँधा नहीं रहना चाहता। वह किसी भी एक राह से बाहर निकलने का प्रयत्न करता है तथा यदि इसमें उसे सफलता नहीं मिलती तो अन्दर-ही-अन्दर वेदना की उत्पत्ति करता रहता है। इसीलिए मैंने सोचा था कि अपने भावों को कविता में प्रगट करूँ, परन्तु कुण्ठित-लेखनी ने मेरा साथ नहीं दिया।

अत्यन्त आश्चर्य की बात तो यह है कि इसी समय मेरे मित्र नवीन को अचानक कविता लिखने का शौक उठा। उसी प्रकार—जैसे अचानक भूकम्प आता है।

वह उस नई हलचल के लिए बिलकुल तैयार न था, क्योंकि उस बेचारे पर इस प्रकार देवी विपत्ति पहले कभी नहीं आई थी। उसके पास छन्द या तुक का जरा भी संग्रह नहीं था, परन्तु वह रुका नहीं। मैं यह देखकर आश्चर्य में पड़ गया। उस पर कविता वृद्धावस्था की तरुणी भार्या के समान आरूढ़ हो गई। अन्त में, उसे छंद एवं तुक की सहायता तथा संशोधन के लिए मेरा ही आश्रय लेना पड़ा।

कविताओं के विषय न तो नए ही थे और न पुराने ही। अर्थात् उन्हें चिर-नवीन भी कहा जा सकता था तथा चिर-पुरातन भी। वे प्रियतमा के प्रति प्रेम की कविताएँ थीं। मैंने उसे कोहनी का एक धक्का देते हुए पूछा—"आखिर बताओ भी तो वह कौन है ?"

नवीन ने हँसते हुए उत्तर दिया—"मैं अभी तक उसका पूरा पता नहीं लगा पाया हूँ।"

मुझे कविता-लेखक नवीन के इस कार्य में मदद करने में बड़ा सुख मिलने लगा। मैं अपने रुके हुए आवेग का नवीन की काल्पनिक प्रेमिका के प्रति प्रयोग करने लगा। जिस प्रकार बिना बच्चे की मुर्गी बतख का अण्डा मिल जाने पर, उसे अपनी छाती के नीचे रखकर सेने लगती है, मैं भी उसी प्रकार नवीन के भावों को अपने हृदय का सारा उत्ताप देकर, सेने बैठ गया। उस अनाड़ी की लिखी हुई कविताओं का मैं इस प्रकार संशोधन करने लगा कि वे लगभग पन्द्रह आने मेरी ही कविता बन गईं।

नवीन आश्चर्यचकित होकर कहता—"मैं भी ठीक यही बात लिखना चाहता था, परंतु लिख नहीं पाता था। मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे हृदय में सब भाव कहाँ से आ जाते हैं ?"

मैं उसे कवि की भाँति उत्तर देता—"कल्पना के कारण। सत्य नीरव होता है तथा कल्पना मुख्य राह होती है। वास्तव में, सत्य-घटना भाव-स्रोत को पत्थर की भाँति दबाए रहती है, कल्पना ही उसका मार्ग खोल देती है।"

नवीन गम्भीरतापूर्वक सोचता हुआ कहता—"तुम बिलकुल ठीक

कह रहे हो। बात तो ऐसी ही है।" कुछ देर बाद सोचकर फिर कहता—"ठीक बात है, बिलकुल ठीक बात है।"

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि मेरा प्रेम संकोचमय है, इसी कारण मैं अपनी ओर से कुछ नहीं लिख सकता। नवीन को परदे की भाँति बीच में रखकर तब कहीं मेरी लेखनी चल सकी है। मेरे द्वारा संशोधित की हुई कविताएँ मानो रसपूर्ण होकर उत्ताप से फटने लगीं।

नवीन बोला—"यह तो तुम्हारी कविताएँ हैं। मैं इन्हें तुम्हारे ही नाम से प्रकाशित कराऊँगा।"

मैंने उत्तर दिया—"बहुत खूब, वास्तव में इनके मूल रचयिता तो तुम्हीं हो। मैंने तो संशोधन मात्र कर दिया है।"

धीरे-धीरे नवीन भी ऐसा ही समझने लगा।

मैं इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि जिस प्रकार पपीहा स्वाँति-नक्षत्र के उदय होने की प्रतीक्षा में आकाश की ओर देखता है, उसी प्रकार मैं भी कभी-कभी अपनी पड़ोसिन की खिड़की की तरफ देखा करता था। कभी-कभी भक्त की वह व्याकुल दृष्टि सार्थक भी हो जाया करता थी। उस कर्म-योग में संलग्न ब्रह्मचारिणी की शान्त मुखश्री स्निग्ध ज्योति से प्रतिबिम्बित होकर मेरे हृदय के सम्पूर्ण क्षोभों को क्षणभर में ही दूर कर देती थी।

परन्तु, उस दिन मैंने सहसा ही यह क्या देखा? मेरे चन्द्रलोक में क्या इस समय भी अग्नि के उत्पात उपस्थित हैं? वहाँ की निर्जन, समाधि-मग्न पर्वत-कन्दराओं का अपूर्ण अग्निदाह क्या अभी तक पूर्ण रूप से नहीं बुझ पाया है?

उस दिन वैशाख मास के अपराह्न में काले-काले मेघ ईशान कोण में एकत्रित हो रहे थे। उस समय समागत झंझा की घोर दीप्ति में मेरी पड़ोसिन खिड़की के पास अकेली खड़ी थी। उस दिन उसकी मेघ के समान शून्य एवं काली आँखों में एक महान् पीड़ा झलकती हुई परिलक्षित हो रही थी।

हाँ, मेरे चन्द्रलोक में अब भी अग्नि-दाह है। वहाँ अब भी गरम श्वासें चलती हैं, देवता के लिए नहीं, मनुष्य के लिए। उस दिन उसकी आँखों की महान् व्याकुलता आँधी के प्रकाश में व्यग्र पक्षी की भांति उड़ी चली जा रही थी, स्वर की ओर नहीं, मानव-हृदय रूपी नीर की ओर।

उस आकाँक्षापूर्ण करुण दृष्टि को देखने के उपरान्त अपने-अपने अशांत-चित्त को स्थिर रखना मेरे लिए कठिन हो उठा। उस समय मुझे अन्य लोगों की कविता का संशोधन करके तृप्ति नहीं मिली। मुझे स्वयं ही कुछ काम करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

उसी क्षण मैंने यह संकल्प किया कि भारतवर्ष में विधवा-विवाह प्रचलित करने के हेतु मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करूँगा। अस्तुः मैं इस कार्य में केवल व्याख्यान देकर एवं लेख लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ; आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहयोग भी देने लगा।

नवीन मुझसे बहस कर रहा था। वह बोला—"चिर वैधव्य में एक प्रकार की पवित्र-शान्ति होती है। एकादशी की क्षीण प्रकाश-आलोकित समाधि भूमि के सदृश्य उसमें एक विराट रमणीयता भी है। क्या वह विवाह की सम्भावना से नष्ट नहीं हो जाएगी?"

इस प्रकार की कवित्वपूर्ण बातें सुनकर मुझे क्रोध आ जाता है। मैं पूछता हूँ कि जो आदमी दुर्भिक्ष में सूख-सूखकर मर रहा हो, उसके सम्मुख यदि कोई व्यक्ति, जो खूब भोजन करने के कारण खूब हृष्ट-पुष्ट हो रहा हो, यदि भोजन की स्थूलता को प्रगट करे और पुष्पों की सुगन्ध तथा पक्षियों के गीतों का वर्णन करके उस मूच्छित पड़े हुए व्यक्ति का पेट भरे तो इसे क्या कहा जाएगा?

अस्तु, मैंने क्रोध में भरकर उत्तर दिया—"देखो नवीन! कलाकार लोग वह कहते हैं कि दृश्य की दृष्टि से अग्नि से भस्म हुए घर में भी एक प्रकार का सौन्दर्य होता है, परन्तु घर को केवल चित्र के रूप में देखने पर भी काम नहीं चलता। क्योंकि उसमें रहना पड़ता है। अस्तु, कलाकार कुछ भी क्यों न कहें, जले हुए घर का पुनः निर्माण होना आवश्यक है। वैधव्य के विषय में तुम दूर बैठकर चाहे जितनी कविताएँ लिखते रहो, परन्तु तुम्हें

यह याद रखना चाहिए कि विधवा के हृदय में एक आकांक्षापूर्ण विचित्र वेदना का निवास रहता है।"

मैं यह अनुभव करता था कि नवीन को किसी भी प्रकार अपने विचारों से सहमत नहीं कर सकूँगा, इसलिए मैं उस दिन कुछ अधिक गर्मी लिए उससे वार्तालाप कर रहा था; परन्तु मैंने तभी यह देखा कि मेरे कथन के उपरान्त उसने एक गहरी साँस ली और मेरी सम्पूर्ण बातों को स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, उसने मुझे और भी अच्छी बातें कहने का अवसर नहीं दिया।

लगभग एक सप्ताह बाद नवीन ने मेरे पास आकर कहा—"यदि तुम मेरी सहायता करो तो मैं स्वयं सेवा करने को प्रस्तुत हूँ।"

उसकी बात सुनकर मैं इतना प्रसन्न हुआ कि मैंने उसे अपने हृदय से लगाकर गोद में उठा लिया और बोला—"जितने रुपए की आवश्यकता हो, मैं तुम्हें दूँगा।"

यह सुनकर नवीन ने सारा वृत्तांत कह सुनाया।

उसकी बातें सुनकर मैंने यह अनुभव किया कि उसकी प्रियतमा काल्पनिक नहीं है। कुछ समय से वह एक विधवा स्त्री को चुपचाप प्यार करता चला आ रहा है और इस बात को वह अब तक बराबर छिपाए रहा है। जिन मासिक पत्रोंमें नवीन की अर्थात् मेरी कविताएँ प्रकाशित होती थीं, वह सब पत्र उस स्थान पर पहुंचाए जाते थे। वे कविताएँ व्यर्थ नहीं गईं। किसी से साक्षात्कार किए बिना ही उसके हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने का यह उपाय मेरे मित्र ने ही ढूँढ़ निकाला था।

परन्तु इस सम्बन्ध में नवीन का यह कहना है कि उसने किसी बुरे विचार से अथवा षड़यन्त्र के रूप में यह कार्य किया हो, ऐसी कोई बात नहीं है। उसे तो यह धारणा थी कि वह विधवा पढ़ना जानती ही नहीं है। वे मासिक पत्र उस विधवा के भाई के नाम बिना मूल्य भेजे जाते थे और यह कार्य केवल मात्र मन को तसल्ली देने का एक पागलपन ही था। उसे ऐसा लगता था कि जिस देवता के लिए वह पुष्पांजलि दे रहा है, क्या पता कि वे उसे स्वीकार करें अथवा नहीं ?

कालान्तर में उस विधवा के भाई के साथ नवीन ने मित्रता स्थापित कर ली। इस सम्बन्ध में भी उसका यह कहना था कि यह कार्य उसने किसी बुरे इरादे से नहीं किया। वास्तविकता यह थी कि जिसे प्यार किया जाता है, उसके निकट सम्बन्धियों का साथ भी बहुत सुन्दर लगता है। अन्त में, एक बार उसका भाई सख्त बीमार पड़ा और उसी सम्बन्ध में उसकी बहिन के साथ जान-पहिचान और भेंट किस प्रकार हुई, इसकी भी एक लम्बी कहानी है। कवि के साथ कविता की विषय-वस्तु का साक्षात्कार हो जाने के उपरांत, कविता के भावों के सम्बन्ध में दोनों में बहुत कुछ वार्तालाप हुआ था और वह वार्तालाप केवल छिपी हुई कविताओं में सीमित रह गया था, यह नहीं कहा जा सकता था।

इन दिनों तर्क में पराजित होकर नवीन ने उस विधवा से भेंट की है और उसके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रक्खा है। पहिले तो वह किसी प्रकार तैयार नहीं हो रही थी, परन्तु अन्त में नवीन ने मेरी सम्पूर्ण युक्तियों का आश्रय लेकर तथा उनके साथ अपनी आँखों का दो-चार बूँद पानी मिलाकर उसे पूर्णतया पराजित कर दिया है और उसे विवाह के लिए तैयार कर लिया है। अब उसके अभिभावक अर्थात् फूफा विवाह करने के लिए रुपया माँगते हैं।

सब बातें सुनकर मैंने कहा—"रुपया मैं तुम्हें अभी दिए देता हूँ।"

नवीन बोला—"इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि इस विवाह के उपरांत प्रारंभ के पाँच-छः मास तक पिताजी खर्च नहीं देंगे, तब तक के लिए तुम्हें उसके खर्च का प्रबन्ध और करना होगा।"

मैंने मुँह से कुछ उत्तर न देकर तुरन्त ही एक चैक काट दिया। फिर कहा—"अब उसका नाम तो बतला दो। जब मेरे साथ कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है तो भला परिचय देने में क्या भय है? मैं तुम्हारा शरीर स्पर्श करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं उसके नाम से कोई कविता नहीं लिखूँगा और यदि लिखूँगा भी तो उसके भाई के पास न भेजकर, सीधी तुम्हारे ही पास भेज दिया करूँगा।"

नवीन बोला—"नहीं, मुझे इस सम्बन्ध में कुछ भय नहीं है। सच बात तो यह है कि वह बेचारी विधवा इस लज्जा से अत्यन्त लज्जित हो रही

है। उसने मुझसे हाथ जोड़कर यह कहा है कि मैं इस सम्बन्ध में किसी से कोई जिक्र न करूँ, परन्तु अब तुमसे छिपाना व्यर्थ है। वह तुम्हारी पड़ोसिन ही है। वही, जो उन्नीस नंबर में रहती है।"

मेरा हृतपिण्ड लोहे का बायलर होता तो नवीन की बात सुनकर उसी समय अवश्य ही फट जाता। मैंने प्रश्न किया—"क्या उसने इस विवाह की सम्मति दे दी है? कुछ भी विरोध नहीं किया?"

नवीन ने हँसते हुए उत्तर दिया—"बिलकुल नहीं।"

मैंने पूछा—"क्या वह केवल कविताएँ ही पढ़कर मुग्ध हो गई?"

नवीन बोला—"क्यों, कविताएँ कुछ बुरी थोड़े ही थीं।"

मैंने मन-ही-मन कहा—"धिक्!"

परन्तु किसे धिक्? उसे अथवा मुझे, अथवा विधाता को?

# राज्याभिषेक

जब अरुणलेखा का विवाह नवेन्दुशेखर के साथ हुआ था, उस समय यज्ञधूम्र के अन्तर्पट से भगवान प्रजापति तनिक मुस्करा दिए थे; परन्तु प्रजापति के लिए जो लीला कौतुकप्रद है, वह हमारे लिए भी वैसी नहीं होती।

नवेन्दुशेखर के पिता पूर्णेन्दुशेखर अँग्रेजी राज्य में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। उस शासन रूपी समुद्र में सलाम रूपी पतवार चला कर ही उन्होंने 'रायबहादुर' की उपाधि के उच्च मरुतट को प्राप्त कर लिया था। अन्य सम्मान-पद को प्राप्त करने के हेतु भी उनके पास यथेष्ट पा थेयथा, परन्तु पचपन वर्ष की आयु में समीपवर्ती राजपद के कुहराच्छिन्न पर्वत-शिखर की ओर करुण एवं लोलुप दृष्टि से देखते हुए वे राज्य-अनुकम्पा रूपी क्षेत्र से अचानक ही उस लोक को प्राप्त कर गए, जहाँ उपाधि रूपी कोई भी क्षेत्र नहीं है। इस प्रकार सलामी से शिथिल उनका शरीर श्मशान-तट पर विश्राम करने लगा।

परन्तु विज्ञान का कहना है शक्ति स्थानान्तरित एवं रूपान्तरित होती रहती है, उसका नाश नहीं होता। अस्तु, चंचला लक्ष्मी की निश्चला सखी सलाम रूपी शक्ति पिता के मस्तक से उतर कर पुत्र के मस्तक पर जा बैठी। परिणामस्वरूप नवेन्दु का नवीन मस्तक लहरः विलोड़ित कूष्माण्ड की भाँति अँग्रेजों के द्वार पर निर्बाध रूप से झुकने तथा उठने का उपक्रम करने लगा।

सन्तानहीन अवस्था में पहिली स्त्री की मृत्यु के उपरान्त उन्होंने जिस परिवार में अपना दूसरा विवाह किया, वहाँ का इतिहास कुछ भिन्न प्रकार का है। उस परिवार के ज्येष्ठ भ्राता श्री प्रमथनाथ अपने परिचितों तथा आत्मीय-

जनों के बीच अत्यन्त सम्मानित दृष्टि से देखे जाते थे और घर के तथा मुहल्ले के सभी लोग सभी विषयों में उन्हें अनुकरणीय समझते थे।

प्रमथनाथ विद्या में बी० ए० की डिग्री प्राप्त थे तथा बुद्धि में उन्होंने विलक्षणता प्राप्त की थी। मोटे वेतन एवं पद की शक्ति उनके पास न थी, इसका कारण यही था कि अँग्रेज उन्हें अपने से जितनी दूर रखना चाहते थे, वे भी उतनी ही दूर रखकर चलते थे। अस्तु, वे घर एवं मित्र मण्डली में जाज्वल्यमान रत्न के समान थे, परन्तु दूरस्थ लोगों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता उनमें नहीं थी।

एक बार प्रमथनाथ तीन वर्ष के लिए विलायत भी घूम आए थे। वहां अँग्रेजों की सौजन्यता से वे इतने मुग्ध हुए कि उन्हें अपने देश के अपमान का दुख भूल गया और वहाँ से वे अँग्रेजी पोशाक पहने ही स्वदेश को लौटे।

उनके भाई, बहिन तथा आत्मीयजन उस वेष-भूषा को देखकर पहिले तो कुछ संकुचित हुए, परन्तु दो-चार दिन बाद ही यह कह उठे कि अँग्रेजी पोशाक में वे इतने भले मालूम होते हैं कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। इस प्रकार उनके परिवार में भी अँग्रेजी पोशाक का गौरव धीरे-धीरे अपना स्थान ग्रहण करने लगा।

विलायत से लौटते समय प्रमथनाथ मन-ही-मन यह सोचते आए थे कि मैं अपने देश में जाकर यह दृष्टांत उपस्थित करूँगा कि अँग्रेजों के साथ समानता की रक्षा करते हुए किस प्रकार चला जा सकता है। जो लोग यह कहा करते हैं कि बिना झुके हुए अँग्रेजों से नहीं मिला जा सकता, वे अपनी हीनता को स्वयं ही प्रगट करते हैं तथा अँग्रेजों को व्यर्थ ही दोष देते हैं।

विलायत से आते समय प्रमथनाथ वहाँ से बड़े आदमियों के बहुत प्रशंसापत्र अपने साथ लेते आए थे। उनकी सहायता से उन्होंने भारत में आकर यहाँ के प्रवासी अँग्रेजों में बहुत कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। यहाँ तक कभी-कभी उन्हें अपनी पत्नी के साथ अँग्रेजों की चाय-पार्टी, डिनर, खेल तथा हास-विलास में भी भाग मिल उठा। इस सौभाग्यमद की मस्ती के कारण उन शिरा-उपशिराओं में एक प्रकार की सनसनी-सी भर गई।

इन्हीं दिनों भारत में नई-नई रेलवे लाइन खुली तथा रेलवे कम्पनी के निमन्त्रण पर छोटे लाट साहब के साथ देश के बहुत से राज्य कृपा-प्राप्त तथा कथित बड़े आदमियों ने उस नई रेल में भ्रमण किया। उन लोगों में एक प्रमथनाथ भी थे। यात्रा में लौटते समय किसी एक अंग्रेज दरोगा ने कुछ आदमियों को किसी एक खास डिब्बे में से अपमानित करके उतार दिया था। उस समय जब वेषधारी प्रमथनाथ भी अपमानित होने से पूर्व उस डिब्बे से नीचे उतरने का उपक्रम कर रहे थे, उस समय दरोगा ने उनसे यह कहा था—"आप किस लिए उतरते हैं? आप यहीं बैठे रहिए न।"

इस विशेष सम्मान को प्राप्त कर प्रमथनाथ फूले न समाए, परन्तु जब गाड़ी छूट गई उस समय तृणहीन धूलधूसरित पश्चिम प्रान्त की सीमा से सूयास्त की एक म्लान आभा ने आकर, अपनी करुणापूर्ण रक्तिम-लज्जा की भाँति मानो उनके सम्पूर्ण हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया। उस समय प्रमथनाथ रेल के डिब्बे के भीतर अकेले बैठे हुए खिड़की में से निर्निमेष दृष्टि द्वारा वनान्तरालवासिनी संकुचिता नंगभूमि को देख-देख कर अनेकों प्रकार की बातें सोचने लगे। आन्तरिक धिक्कार से उनका हृदय विदीर्ण हो गया और दोनों नेत्रों से आँसुओं की गर्म धारा बहने लगी।

उनके हृदय में एक प्राचीन कहानी का जन्म हुआ—"एक गधा राज-मार्ग से देवप्रतिमा का रथ खींचे ले जा रहा था। और मार्ग में खड़े हुए लोग उसके सामने धूल में लेटते हुए साष्टांग प्रणाम कर रहे थे, जिसे देखकर वह मूर्ख गधा अपने मन में यह सोच रहा था कि सब लोग उसी का सम्मान कर रहे हैं।

प्रमथनाथ ने मन-ही-मन सोचा—"उस गधे में और मुझ में इतना ही अन्तर है कि मैं यह समझ गया हूं कि यह सम्मान मेरे लिए नहीं अपितु मेरे ऊपर लदे हुए बोझ के लिए है।"

घर लौटते समय प्रमथनाथ ने घर के सब छोटे-बड़े लोगों को बुला कर हवन का आयोजन किया और उस होम-अग्नि में एक-एक करके सभी लायती वस्त्रों की आहुति देने लगे। यह अग्निशिखा जितनी ऊँची उठती

जाती थी, लड़के उतने ही अधिक आनन्दित होकर नाचते थे। उसी दिन से प्रमथनाथ अँग्रेजों के घर की चाय तथा रोटी के टुकड़ों को त्याग कर फिर से अपने गृहरूपी दुर्ग में दुर्गम हो बैठ रहे। परन्तु अन्य उपाधिकारी मनुष्य अँग्रेजों के द्वार पर अपने पगड़ी युक्त मस्तक को निरन्तर झुकाते और उठाते रहे।

देव की गति से भाग्यहीन नवेन्दुशेखर इसी परिवार की एक मझली बहिन से अपना विवाह कर बैठे। इस घर की लड़कियाँ जैसी पढ़ी-लिखी होती हैं, वैसी ही सुन्दर भी होती हैं। नवेन्दुशेखर ने समझा इस सम्वन्ध को करके उन्होंने बाजी जीत ली है।

परन्तु तुम लोग भी मुझे पाकर जीत गए हो वह सिद्ध करने में भी उन्होंने देर नहीं लगाई। जिस अँग्रेज साहब ने उनके पिता को कब कौनसी चिट्ठी लिखी थी, वह मानो भ्रम के वशीभूत हो, उनकी जेब से अचानक ही निकल आती थी। और उसे वे अपनी सालियों के हाथ में रखने लगे थे। परन्तु जब उन्हें अपनी सालियों के सुकोमल अधर विम्बों के भीतर से तीक्ष्णधार के समान हँसी, मखमल की लाल म्यान के भीतर से निकलती तलवार के समान चमकती दिखाई देने लगी, उस समय स्थान, काल तथा पात्र के सम्बन्ध में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और वे क्षणभर में यह समझ गए कि उनसे बड़ी भारी गलती हो गई है। एक खास शुभ दिन देख कर रूप, गुण, में श्रेष्ठ सब से बड़ी साली लावण्यलेखा ने उनके विलायती बूट जूतों पर सिन्दूर लगा दिया और उसे नवेन्दु के शयनगृह के आले में रखकर उसके सामने फूल-चन्दन जलता हुआ दीपक तथा धूपवत्ती रख दी। नवेन्दु ने ज्यों ही उस कमरे में प्रवेश किया त्योंही अन्य दो सालियों ने उनके दोनों कान पकड़ कर हँसते हुए इस प्रकार कहा—"चलो, अपने इष्टदेवता को प्रणाम करो। उनकी कृपा से ही तुम्हारे पद की उन्नति होगी।"

तीसरी साली किरणलेखा ने कई दिन परिश्रम करके एक चादर पर लाल डोरे द्वारा जोन्स, स्मिथ, ब्राउन, टोन्सन आदि एक सौ आठ प्रचलित नाम काढ़ कर रख छोड़े थे। अस्तु, उसने भी एक दिन वह नामावली का उपहार नवेन्दुशेखर को भेंट कर दिया।

चौथी साली शशङ्कलेखा यद्यपि आयु की गणना में सम्मानित व्यक्तियों में नहीं थी, फिर भी उसने नवेन्दु के पास आकर यह कहा—"जीजाजी मैं तुम्हारे लिए एक माला बना दूँगी, तुम उस पर साहबों के नाम को जपा करना।"

उस समय उसकी बड़ी बहन ने उसको डाटते हुए इस प्रकार व्यंग वचन कहे—"चल री, तुझे अपनी बहादुरी दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

उन सब की बातों को सुन कर नवेन्दु को मन-ही-मन गुस्सा भी आया और शर्म भी लगी, परन्तु सालियों को छोड़ा भी नहीं जा सकता था; विशेष कर बड़ी साली अत्यन्त सुन्दरी थी। उसके मुँह में मधु भी भरा हुआ था और काँटे भी। एक वस्तु का नशा और दूसरी वस्तु का दर्द—दोनों ही अपना-अपना खास स्थान बना लेते थे। दीपक की लौ से घायल होकर पतङ्गा, क्रुद्ध होकर भनभनाता ही रहता है। परन्तु अन्धे तथा अज्ञानी की भाँति उसके चारों ओर चक्कर काटते हुए मृत्यु का आलिंगन करना नहीं छोड़ता।

अन्त में, साली-संसर्ग के महामोह में पड़कर नवेन्दुशेखर साहिबी-सुहाग-लालसा को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार करने का प्रयत्न कर उठे। अब वे जब कभी बड़े साहब को सलाम करने जाते, उस दिन सालियों से यह कह जाते कि—"मैं सुरेन्द्र बनर्जी का भाषण सुनने जा रहा हूँ तथा जब वे दार्जिलिंग से लौटने वाले मँझले साहब का स्वागत करने जाते तो यह कह जाते कि—"मैं मँझले मामा से मिलने जा रहा हूँ।

साहब और साली रूपी दो नावों पर पैर रखकर चलने के कारण नवेन्दुशेखर को बड़े संकट का सामना करना पड़ा। उधर सालियाँ मन-ही-मन कहतीं—"तुम्हारी दूसरी नाव के पेंदे में छेद किए बिना हम चैन से नहीं बैठेंगी।"

महारानी विक्टोरिया के आगामी जन्म-दिवस के उपलक्ष में यह अफवाह सुनने में आ रही थी कि उस दिन नवेन्दुशेखर उपाधि रूपी स्वर्ग-

लोक की पहली सीढ़ी 'राय बहादुर' पर पदार्पण करेंगे; परन्तु नवेन्दुशेखर उस सम्भावित सम्मान-लाभ के आनन्दपूर्ण सम्मान को अपनी सालियों के समक्ष प्रगट न कर सके। इतने पर भी एक दिन शरद शुक्लपक्ष की रात्रि में, सत्यानाशी चन्द्रमा की चांदनी में अपने चित्त के आवेग के कारण उन्होंने उक्त समाचार अपनी पत्नी को सुना दिया। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन सबेरे ही उनकी पत्नी पालकी में बैठ कर अपनी बहिन के घर जा पहुँची और वहाँ अापूर्ण गद्गद् कण्ठ से अपनी वेदना को प्रकट करने लगी। उसकी बात सुनकर लावण्यलेखा ने कहा—"तो इसमें बुराई की क्या बात है ? रायबहादुर हो जाने पर तेरे पति के कोई पूँछ थोड़े ही निकल आवेगी, जो इतना शरमा रही है ?"

अरुणलेखा बोली—"नहीं, जीजी ! और चाहे कुछ भी हो, परन्तु मैं बहादुरनी बनना स्वीकार नहीं कर सकती।"

बात वास्तव में यह थी कि अरुणलेखा के परिचत भूतनाथबाबू राय-बहादुर का खिताब प्राप्त व्यक्ति थे। यही उसकी आपत्ति का मुख्य कारण था।

अन्त में लावण्य ने उसे बहुत प्रकार से समझाते हुए कहा—"तुझे इसके लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है, अरुणा।"

लावण्यलेखा के पति नीलरतन बक्सर में कार्य करते थे। शरद् ऋतु के अन्त में वहाँ से लावण्यलेखा ने नवेन्दु को एक निमन्त्रण भेजा और नवेन्दु-शेखर उसे पाकर प्रसन्नतापूर्वक बक्सर को रवाना हो गए। रेल पर यात्रा करते समय उनका बाँया अङ्ग नहीं काँपा, परन्तु उससे केवल इतना ही सिद्ध हुआ कि आसन्न सम्पत्ति के समय बांए अङ्ग का काँपना केवल कुसंस्कार मात्र है।

उस समय लावण्यलेखा पश्चिम प्रदेश के नवीन शीतागमपूर्ण स्वास्थ्य एवं सौंदर्य की अरुण-ज्योति से युक्त होकर, निर्मल शरदृऋतु की निर्जन-नदी तट की हरी-भरी कासवन-श्री के समान हास्य तथा हिल्लोल से झलमलाती हुई परम आकर्षक प्रतीत हो रही थी। वह नवेन्दु की मुग्धदृष्टि पर, पुष्प-संयुक्ता मालती लता पर नवीन प्रभात की भाँति शीतोज्ज्वल तुषारविन्दु की वर्षा करने लगी।

मानसिक आनन्द एवं पर्वतीय प्रान्त की स्वास्थ्यप्रद वायु का सेवन कर नवेन्दु का अजीर्ण रोग नष्ट हो गया। स्वास्थ्य के नशे में सौंदर्य के मोह में तथा साली के हाथ की सेवा के सम्मोह में पड़कर, वे मानो पृथ्वी को छोड़कर आकाश में भ्रमण करने लगे। बगीचे के सामने बहने वाली गंगा मानो उन्हीं के अदम्य पागलपन का रूप धारण करके निरन्तर वेग से बही जा रही थी। प्रातःकाल जब वे नदी-तट से टहल कर वापिस आए तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता, मानो ठण्डे प्रभात की स्निग्ध धूप ने प्रिय-मिलन के उत्ताप की भाँति उनके सम्पूर्ण शरीर को मधुमयी मस्ती से भर दिया हो। तदुपरांत वे अपनी साली के साथ रसोई के कार्यों में सहायता देने का भार लेकर, जान-बूझकर पग-पग पर अपनी अज्ञानता तथा अनैपुण्य का परिचय दिया करते थे, क्योंकि उन त्रुटियों के कारण उन्हें प्रतिदिन मीठी डाट-फटकार सुनने को मिलती और उस सुख से वे वंचित नहीं रहना चाहते थे। नन्हें बच्चे की भाँति प्रतिदिन मसाले निकलकर देना, चूल्हे से तवे, कढ़ाई तथा देगची को उतारना एवं अधिक आँच लगकर कहीं तरकारी न जल जाए इसका ध्यान रखना। इन सब बातों में वे अपनी अपटुता तथा लाचारी प्रदर्शित करके साली की कृपा-मिश्रित हँसी तथा हँसीयुक्त लाञ्छना को स्वीकार करते रहते थे।

दोपहर को जब एक ओर भूख की ताड़ना होती और दूसरी ओर साली का अनुरोध सामने आता, उस समय अपने आग्रह तथा प्रियजनों की उत्सुकता या यों कहिए कि भोजन की सरसता एवं भोजन बनाने वाली की सेवा-माधुरी इन सब का एक साथ संयोग हो जाने के कारण अपनी भूख का ठीक-ठीक अन्दाज रखना उनके लिए कठिन हो जाता था।

भोजन के पश्चात् ताश के मामूली खेल में भी नवेन्दु अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दे पाते थे। खेल के बीच में वे बेईमानी करते, दूसरे के पत्ते देखने का प्रयत्न करते, छीना-झपटी और बक्झक् शुरू करते, परन्तु इतने पर भी कभी अपनी हार स्वीकार नहीं करते थे। इसके लिए उन्हें नित्य ही भली-बुरी बातें सुननी पड़ती थीं, परन्तु वे ऐसे पाखण्डी बन गए थे कि आत्मसुधार का रञ्चमात्र भी प्रयत्न नहीं करते थे।

उन्होंने केवल एक बात में अपना सुधार कर लियाथा और वह यह था कि उन्होंने साहबों की खुशामद को जो अपने जीवनका महान् लक्ष्य मान लिया था, उसे वे वर्तमान समय में लगभग बिल्कुल ही भुला बैठे थे। साथ ही वे यह भी अनुभव कर उठे थे कि आत्मीय स्वजनों की श्रद्धा तथा स्नेह कितना सुखदायी एवं गौरव की वस्तु है।

इसके अतिरिक्त वे एक नए वातावरण में भी पड़ गए थे। लावण्य-लेखा के पति नीलरत्नबाबू अदालत के बड़े वकील होते हुए भी सूबे के साहबों से मिलने के लिए भी कभी नहीं जाते थे। इस सम्बन्ध में यदि कोई चर्चा छिड़ती तो वे यही उत्तर दिया करते कि भाई! हमें उनसे मिलने की आवश्यकता ही क्या है? यदि हम उनसे मिलें-जुलें और बदले में वैसा ही उचित सम्मान प्राप्त न करें तो व्यर्थ में मन को कष्ट उठाना पड़ेगा। मरु-भूमि की रेत देखने में श्वेत अवश्य होती है, परन्तु उसमें बीज बोकर फसल नहीं उगाई जा सकती। अस्तु, मेरी सम्मति में तो यदि काली जमीन में से फल प्राप्त हो सके, तो उसी में बीज बोना श्रेयस्कर है।

नवेन्दुशेखर खिचाव में आकर उनके दल में सम्मिलित हो गए। परिणाम की उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। पिता की तथा अपनी चेष्टा से उन्होंने जिस जमीन को जोता-बोया था, उसके द्वारा स्वयं ही रायबहादुर रूपी फल प्राप्ति की सम्भावना उन्हें बढ़ गई थी, अब उन्होंने उसमें फिर से पानी सींचने की आवश्तकता अनुभव नहीं की। अँग्रेजों के विशेष शौक के लिए नवेन्दु ने पहिले ही बहुत धन व्यय करके घुड़दौड़ का एक सुन्दर स्थान नगर में बनवा दिया था।

इतने में ही कांग्रेस के अधिवेशन का समय निकट आ गया और नीलरतन के पास उसके चन्दे के लिए एक अनुरोध-पत्र भी।

जिस समय नवेन्दु लावण्यलेखा के साथ बड़े मजे में ताश का खेल खेल रहे थे। उसी समय नीलरतनबाबू अपने हाथ में चन्दे की बही लिए हुए उनके पास जा पहुंचे और बोले—"भाई! तनिक इस पर अपने हस्ताक्षर तो कर देना।"

पूर्व संस्कारों के अनुसार नवेन्दु का मुख सूख गया। यह देखकर लावण्यलेखा अत्यन्त चंचलता के साथ बोल उठी—"न नवेन्दुबाबू ! ऐसा कार्य भूल कर भी न करना, अन्यथा तुम्हारा घुड़दौड़ का मैदान मिट्टी में मिल जाएगा।"

नवेन्दु ने यह सुनकर उछलते हुए कहा—"अहा, जैसे मुझे उसकी चिन्ता के मारे नींद ही न आती हो ?" तभी नीलरतनबाबू आश्वासन देते हुए बोले—"विश्वास रक्खो, तुम्हारा नाम किसी अखबार में नहीं छपेगा।"

लावण्य अत्यन्त चिन्तित होकर बोली—"फिर भी आवश्यकता क्या है ? क्या पता कहीं किसी ने......?"

नवेन्दु तीव्र स्वर में बोल उठे—"अखबार में छप जाने से मेरा नाम घिस नहीं जाएगा।" इतना कहकर उन्होंने नीलरतन के हाथ से वही छीन ली और उसमें एक हजार चन्दा लिखकर, अपने हस्ताक्षर कर दिए, परन्तु मन में आशा अवश्य रक्खी कि अखबार में उनका नाम नहीं छपेगा।

यह देखकर लावण्य ने मस्तक पर हाथ रखते हुए कहा—"अरे, यह तुमने क्या कर डाला ?"

नवेन्दु दर्प के साथ बोले—"क्यों, क्या हुआ ?"

लावण्य बोली—'स्यालदह स्टेशन के गार्ड, व्हाइटएवे की दूकान के असिस्टेन्ट, हार्ट प्रादर्श के सईस साहब, ये सब लोग तुम पर बहुत गुस्सा होकर मुँह फुलाकर बैठ जाँए, यदि तुम्हारे यहाँ पूजा के निमन्त्रण में आकर उन्हें पीने के लिए शैम्पेन न मिले।"

यह सुनकर नवेन्दु ने उद्धत स्वर में कहा—"ओह, तब तो मैं घर जाकर मर ही जाऊँगा।"

इस घटना के कुछ दिन बाद ही एक दिन प्रातःकाल जब नवेन्दु अंग्रेजी समाचार पत्र देख रहे थे, उसी समय अचानक उनकी दृष्टि चिट्ठी-पत्री वाले कालम पर जा पड़ी। उन्होंने देखा कि उस कालम में 'एक्स' नामक किसी पत्र प्रेषक ने, उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देते हुए, उनके कांग्रेस को चन्दा देने की बात प्रगट कर दी है और अन्त में यह भी लिख दिया है

कि उन जैसे व्यक्ति का सहयोग पाकर कांग्रेस को जो बल मिला है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

"कांग्रेस को बल मिला ? हाय देवलोकवासी पिता पूर्णेन्दुशेखर क्या तुमने कांग्रेस की शक्ति बढ़ाने के लिए ही मुझे इस भारतभूमि में जन्म दिया था ?"

परन्तु दुःख के साथ सुख भी होता है। नवेन्दु जैसे व्यक्ति कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं । उन्हें अपने पास खींचने के लिए एक ओर भारतीय कांग्रेस तथा दूसरी ओर अंग्रेज-सम्प्रदाय ने लालायित होकर अपने-अपने जाल बिछा रक्खे हैं । यह बात क्या कहीं छिपाने योग्य है ।

अस्तु, नवेन्दु ने हँसते-हँसते वह अखबार ले जाकर लवण्यलेखा को दिखलाया और लवण्यलेखा ने, जैसे उसे कुछ पता ही नहीं हो—ऐसा भाव प्रदर्शित करते हुए, अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण मुद्रा से कहा—"अरे, यह तो बिल्कुल ही भण्डाफोड़ कर दिया , निश्चय ही यह किसी दुश्मन का कार्य है। ईश्वर करे उसकी कलम में दीमक लग जाए, स्याही में बालू पड़ जाए और इस अखबार को कीड़े खा जाएँ.......।"

इस घटना के दो दिन बाद ही नवेन्दु के नाम अंग्रेजों द्वारा सम्पादित एक कांग्रेस-विरोधी अंग्रेजी दैनिक पत्र डाक से आया। उसमें "इसे कौन नहीं जानता है" शीर्षक से पूर्वकथित सम्वाद का प्रतिवाद प्रकाशित हुआ था लेखक ने उसमें लिखा था कि जो लोग नवेन्दु को जानते हैं, वे उन्हें बदनाम करने वाली इस बात पर बिलकुल विश्वास नहीं कर सकते । जिस प्रकार शेर के लिए अपनी चमड़ी बदलना सम्भव है, उसी प्रकार नवेन्दुबाबू का कांग्रेस समर्थक होना असम्भव है। नवेन्दुबाबू का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वे बेकारी में नौकरी के उम्मीदवार तथा मुवक्किल के वकील नहीं हैं। उनकी गिनती उन लोगों में भी नहीं है, जो दो दिन के लिए विलायत में घूम आए हों और वहाँ की रहन-सहन तथा पोशाक की नकल करके, अंग्रेज समाज में घूमने की हिमाकत में असफल होकर, अपना-सा मुँह लिए पड़े हों। अतः वे क्यों इस प्रकार......आदि आदि ।"

हाँ, देवलोकवासी पिता पूर्णेन्दुशेखर ! आप अँग्रेजों में इतना नाम, इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त हुए थे और आज,—क्या कहते हैं सो,......।"

यह पत्र भी साली के सम्मुख पङ्ख के समान पसार कर दिखाने योग्य है; क्योंकि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि नवेन्दु कोई अप्रसिद्ध अथवा अकिंचन व्यक्ति नहीं है और वे अपना एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व रखते हैं।

यह समाचार सुनते ही लावण्य ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"यह पत्र तुम्हारे किसी मित्र ने छपवा दिया होगा। कौन है वह टिकिट कलक्टर या चमड़े का दलाल ?"

नीलरतन बोले-"भाई ! तुम्हें इस पत्र का प्रतिवाद करना चाहिए ?"

नवेन्दु कुछ उच्च भाव धारण करते हुए बोले—"लोग ऐसे ही लिखा करते हैं, उनकी क्या आवश्यकता है ? किस-किस को उत्तर दिया जाए ?"

लावण्य बड़े जोर से हँस पड़ी।

नवेन्दु कुछ लज्जित होते हुए बोले—"आखिर, इतनी हँसी क्यों ?"

लावण्य ने इसके उत्तर में फिर उसी प्रकार हँसते हुए, अपने सुन्दर शरीर को इस प्रकार हिलाना शुरू किया, जिसे देखकर नवेन्दु परेशान हो उठे। हँसी की पिचकारियों का रग जब उनकी आँख, कान, नाक तक में समा गया, तब वे चिढ़कर बोले—"तुम समझती हो कि मुझे प्रतिवाद करने से डर लगता है ?"

लावण्य बोली—आप क्यों डरने लगे ? मैं सोचती हूँ—आप अपने अरमानों के एकमात्र सहारे, घुड़दौड़ के मैदान की अब कैसे रक्षा कर सकेंगे ? फिर भी कोई बात नहीं, जब तक शरीर में साँस है, तब तक आस है।"

नवेन्दु बोले—'वाह ठीक समझा। तुमने समझा है कि मैं इसीलिए नहीं लिख रहा हूँ ?" इतना कहकर वे उसी समय क्रोधावेश में कागज-कलम लेकर बैठ गए, परन्तु लिखने में क्रोध की झलक नहीं आई, अतः लावण्य तथा नीलरतन को उसके सुधारने का भार लेना पड़ा। फिर तो मानो पूड़ियों

की कढ़ाई चढ़ गई, जिसे नवेन्दु पानी तथा घी के सहारे ठण्डे तथा नरम करके बेलते और दो-दो सुधारने वाले उसको कढ़ाई में डालकर, कड़ी और गरम करके फुला देते। अन्त में उन्होंने लिखा—"जब अपने आदमी शत्रु हो जाते हैं तो वे बाहर के शत्रुओं से अधिक भयानक हो जाते हैं। भारत सरकार के पठान या रशियन उतने भयानक शत्रु नहीं, जितने घमण्डी ऐंग्लो इंडियन हैं। वे ही सरकार तथा जनता के बीच मित्रता का सम्बन्ध स्थापित नहीं होने देते। कांग्रेस और प्रजा के मध्य स्थिर मित्रता न होने देने में उनके पत्र एक दीवार का काम कर रहे हैं आदि।

नवेन्दु भीतर-ही-भीतर डरने लगे, परन्तु पत्र की सुन्दर लिखावट को देखकर उन्हें रह-रहकर प्रसन्नता भी होने लगी, क्योंकि बहुत प्रयत्न करने पर भी वे वैसा नहीं लिख सकते थे।

इसके पश्चात् कुछ समय तक दोनों पक्षों के पत्रों में वाद-विवाद चलता रहा तथा नवेन्दु के कांग्रेस में सम्मिलित होने तथा चन्दा देने की बात चारों ओर फैल गई।

नवेन्दु भी सब खतरों का अनुभव करते हुए, अपनी बातचीत में ऐसा भाव दरसाने लगेकि सारे समाज में वे अत्यन्त ही निडर तथा देशहितैषी कहलाने लगे। लावण्य ने मन-ही-मन मुस्कराते हुए कहा—"ठहरिए, अभी आपकी अगली परीक्षा शेष है।"

नवेन्दु एक दिन प्रातःकाल नहाने से पूर्व अपनी छाती में तेल लगाकर पीठ के कुछ भागों में तेल लगाने का प्रयत्न कर रहे थे कि इतने में नौकर ने आकर उन्हें एक कार्ड दिया। उस पर मजिस्ट्रेट साहब का नाम अंकित था। लावण्य हास्यमिश्रित दृष्टि द्वारा यह कार्य देख रही थी।

नवेन्दु कटी हुई मछली की भाँति तड़फड़ाते रहे, क्योंकि तेल लगाते हुए मजिस्ट्रेट से मिलना अनुचित था। वे शीघ्र ही नहा लिए तथा किसी प्रकार कपड़े पहिनकर, शीघ्रता से बाहर के कमरे में जा पहुँचे। नौकर बोला—"साहब आपकी बहुत देर तक प्रतीक्षा करके अभी उठ कर चले गए हैं।" इस मिथ्याचरण के पाप में कुछ लावण्य का था तथा कुछ भाग

नौकर का। इसे नैतिक गणित शास्त्र की एक साधारण समस्या भी कहा जा सकता है।

नवेन्दु का क्षुब्ध हृदय उसी प्रकार तड़फड़ाने लगा कि जिस प्रकार छिपकली की पूँछ कट जाने पर अन्धे के समान तड़फड़ाती रहती है। उस दिन नवेन्दु का मन खाने-पीने, सोने-बैठने तथा घूमने-फिरने में बिलकुल ही नहीं लगा।

लावण्य अपने मुख से भीतरी हँसी के आभास को बिलकुल दूर करके बेचैनी के साथ रह-रह कर पूछने लगी—"आज तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं? बताओ, आज तुम्हें क्या हो गया है?"

नवेन्दु ने बड़ी कठिनता से अपने चेहरे पर मुस्कराहट लाते हुए समयानुसार एक छोटा-सा उत्तर देते हुए कहा—"मुझे तुम्हारे राज्य में कष्ट किस प्रकार का? तुम तो मेरी धन्वन्तरनी बनी बैठी हो।"

परन्तु उसी क्षण उनकी मुस्कुराहट समाप्त हो गई और वे सोचने लगे कि एक तो मैंने कांग्रेस को चन्दा दिया, दूसरे पत्र में छपने के लिए एक कड़ी चिट्ठी भी लिख दी, उस पर मजिस्ट्रेट स्वयं मुझसे मिलने आए और वे भी प्रतीक्षा करके चले गए। न जाने वे अपने मन में क्या सोचते होंगे? वे मन-ही-मन कहने लगे—"हाय पिता, हाय पूर्णेन्दुशेखर! मुझे भाग्य के चक्कर में पड़कर वैसा बन जाना पड़ा, जैसा वास्तव में नहीं हूँ। इस कुपुत्र को क्षमा कर दीजिएगा।"

दूसरे दिन वे खूब सजधज कर, घड़ी की चैन लटका कर तथा सिर पर एक भारी पगड़ी रखकर, बाहर निकल पड़े। लावण्य बोली—"कहाँ चले इस समय?"

नवेन्दु ने उत्तर दिया—"एक आवश्यक कार्य है।"

लावण्य चुप होगई।

मजिस्ट्रेट साहब के दरवाजे पर पहुंच कर नवेन्दु ने जैसे ही कार्ड निकाला, तभी अर्दली ने कहा—"इस समय भेंट न हो सकेगी।

नवेन्द्र ने उसी समय दस रुपए का एक नोट उसे दे दिया।

साहब के कमरे में पुकार हुई । मजिट्रेट साहब उस समय स्लीपर और मार्निंग गाउन पहिने कुछ लिखने में व्यस्त थे । नवेन्दु ने अन्दर जाकर उनको नमस्कार किया । मजिस्ट्रेट ने उँगली के संकेत से बैठने के लिए कहते हुए, बिना मुँह ऊपर उठाए कहा—"क्या कहना चाहते हो ?"

नवेन्दु ने घड़ी की चैन को हिलाते हुए धीरे से विनय भरे हुए शब्दों में कहा—"कल आप कृपा करके मुझसे मिलने मेरे घर पधारे थे, परन्तु......"

मजिस्ट्रेट ने भौंहें चढ़ा कर, एक आँख से नवेन्दु की ओर घूरते हुए कहा—"मैं मिलने गया था ?"

नवेन्दु यह सुनकर बोले—"मुझसे गलती हुई; क्षमा कीजिएगा ।" यह कह कर वे पसीने से भीगे हुए बाहर निकल आए तथा घर आकर, रात भर पलंग पर पड़े-पड़े, दूर स्वप्न में सुने मंत्र की भांति, मजिस्ट्रेट के शब्दों पर रह-रहकर विचार करने लगे ।

लौटते समय रास्ते में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ था कि मजिस्ट्रेट साहब ने क्रोधावेष में उनसे मिलने आने की बात नहीं मानी है । अस्तु, वे मन-ही-मन पश्चाताप करने लगे कि पृथ्वी यदि फट जाए तो मैं उसमें समा जाऊँ, परन्तु पृथ्वी नहीं फटी और वे सकुशल घर पहुँच गए ।

उन्होंने लावण्य से आकर कहा—"देश भेजने के लिए मैं गुलाब जल लेने गया था ।"

इसी समय मजिस्ट्रेट साहब के पांच-छः चपरासी आ पहुँचे तथा मुस्करा कर सलाम करते हुए उनके मुँह की ओर देखने लगे । लावण्य हँसते हुए बोली—"यह तुम्हें गिरफ्तार करने तो नहीं आए हैं, क्योंकि तुमने कांग्रेस को चन्दा दिया है ?" प्यादों ने खीस निपोरते हुए कहा—"बाबू साहब ! बखशीश ।" तभी नीलरतन बाबू ने बगल के कमरे से निकल कर, विरक्ति के स्वर में उनसे पूछा—"किस बात की बखशीस ।"

प्यादों ने पहलेके समान फिर दांत निकालते हुए कहा—"बाबू साहब हुजूर से मिलने गए थे उसी की बखशीस......"

लावण्य हँसते हुए बोली—"क्या आजकल मजिस्ट्रेट साहब गुलाबजल बेचने लगे हैं ? पहिले तो उनका ऐसा ठण्डा रोजगार नहीं था ।"

दुर्भाग्यशील नवेन्दुशेखर गुलाबजल के साथ मजिस्ट्रेट-दर्शन का सामंजस्य स्थापित करने के लिए न जाने क्या-क्या अण्ट-शण्ट बातें बक गए, जो किसी की कुछ समझ में नहीं आई ।

नीलरतन बोले—"बखशीस का कुछ काम नहीं हुआ है। जाओ, बखशीस कुछ नहीं मिलेगी ।"

तभी नवेन्दु ने अत्यन्त संकोचपूर्वक अपनी जेब में से एक नोट निकालते हुए कहा—"ये गरीब आदमी ठहरे । इन्हें कुछ देने में हर्ज ही क्या है ?"

यह सुनकर नीलरतन ने नवेन्दुशेखर के हाथ से नोट छीनते हुए उत्तर दिया—"इस संसार में इनसे भी दरिद्र व्यक्ति भरे पड़े हैं । इन रुपयों को मैं उन्हें देना अधिक पसन्द करूँगा ।"

रुष्ट कैलाशपति के गणों को कुछ ठण्डा करने का अवसर हाथ न आने के कारण नवेन्दुशेखर अत्यन्त चिन्तित और परेशान हो उठे । जिस समय वे प्यादे वज्र दृष्टि डालते हुए लौटकर जाने लगे, उस समय नवेन्दु अत्यन्त करुण दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए, मन-ही-मन यह निवेदन कर रहे थे—"भाइयो ! इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, तुम तो खुद देख ही रहे हो ।"

कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होने वाला है । उसमें सम्मिलित होने के लिए नीलरतन बाबू सपत्नीक कलकत्ता आए हैं । नवेन्दु भी उन्हीं के साथ लौट आए हैं ।

कलकत्ता आते ही कांग्रेसियों ने नवेन्दु को चारों ओर से घेर कर एक जोरदार ताँडवनृत्य-सा करना आरम्भ कर दिया । प्रतिष्ठा, सत्कार एवं प्रशंसा सीमा को लाँघ गए । सभी लोग एक स्वर से कहते थे—"जब तक देश में आप जैसे प्रतिष्ठित सज्जन देश के कार्य में सम्मिलित नहीं होते, तब तक भारत का उद्धार नहीं हो सकता । इस कथन की सचाई को नवेन्दु अस्वीकार नहीं कर सके और इस गड़बड़-झाले में वे अचानक ही देश के कर्णधार किस

प्रकार बन बैठे हैं—इस बात को स्वयं भी न समझ सके । जिस समय उन्होंने कांग्रेस के पंडाल में पदार्पण किया, उस समय सब लोग उनके सम्मान में उठकर खड़े हो गए । सभी ने विलायती चीत्कार के साथ 'हिप, हिप, हुर्रे' की ध्वनि से उनका अपार अभिनन्दन किया, परन्तु मातृभूमि के कर्ण-मूल उस समय लज्जा से लाल हो रहे थे ।

निश्चित् समय पर महारानी का जन्म-दिवस आया और और नवेन्दुशेखर का रायबहादुर का खिताब नेत्रों के सम्मुख दीखने वाली मृग मरीचिका के समान न जाने कहाँ अदृश्य हो गया ।

उस दिन सायंकाल लावण्यलेखा ने अत्यन्त समारोहपूर्वक नवेन्दुशेखर को निमन्त्रण दिया और उन्हें नूतन वस्त्रों से विभूषित कर, उनके मस्तक पर अपने हाथ से लाल चन्दन का तिलक लगाया । तदुपरांत प्रत्येक साली ने अपने हाथ से गूँथी हुई पुष्पमाल उनके कण्ठ में पहनाई । अरुण वस्त्रधारिणी अरुणलेखा के अधर उस दिन मुस्कान, लज्जा तथा आभूषणों की आड़ में चमक रहे थे । उसके पसीने से तर तथा लज्जा से युक्त शीतल हाथों में एक पुष्पहार देकर, उसकी बहनें खींचतान करने लगीं, परन्तु वह किसी प्रकार काबू में नहीं आई । वह उस प्रधान माला को नवेन्दु के गले में पहिनाने के लिए निर्जन-रात्रि के आगमन की प्रतीक्षा में छिपकर बैठ गई ।

तभी सालियों ने नवेन्दुशेखर से कहा—"आज हम सबने तुम्हें राजा बना दिया है । भारतवर्ष में ऐसा सम्मान तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं मिला होगा ।"

इन शब्दों से नवेन्दु को कुछ सान्त्वना मिली या नहीं, यह तो उनका अन्तःकरण एवं अन्तर्यामी ही जानते हैं, परन्तु हम लोगों को इस सम्बन्ध में पूरा सन्देह ही बना हुआ है और हमारा निश्चित् विश्वास है कि मृत्यु से पूर्व नवेन्दुशेखर रायबहादुर बनकर ही रहेंगे तथा उनकी मृत्यु पर 'इंग्लिशमैन' एवं 'पायोनियर' अखबार समान स्वर में शोक प्रकट किए बिना न मानेंगे । अतः हमारी ओर से केवल इतना ही कहा जाता है—"थ्री चीयरर्स ऑफ बाबू पूर्णेन्दुशेखर, हिप, हिप, हुर्रे; हिप, हिप, हुर्रे, हिप, हिप, हुर्रे ।"